वनौषधि



चरक-अनुसन्धान-भवन, काशी

प्रकाशक और सहायक-सम्पादक :—

श्रीचन्द्रशेखर त्रिवेदी आयुर्वेदाचार्य ए० एम्० एस्०

चरक-अनुसन्धान-भवन, काशी।

वार्षिक मूल्य :- तीन रुपये

सम्पादकः—

श्रीकेदारनाथ शर्म्मा

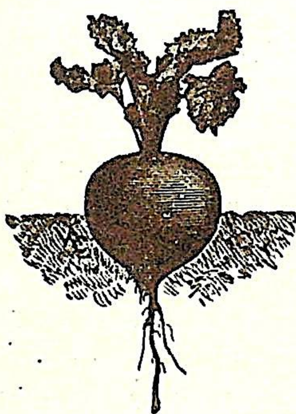
एक प्रति :- पाँच आने

मुद्रकः—

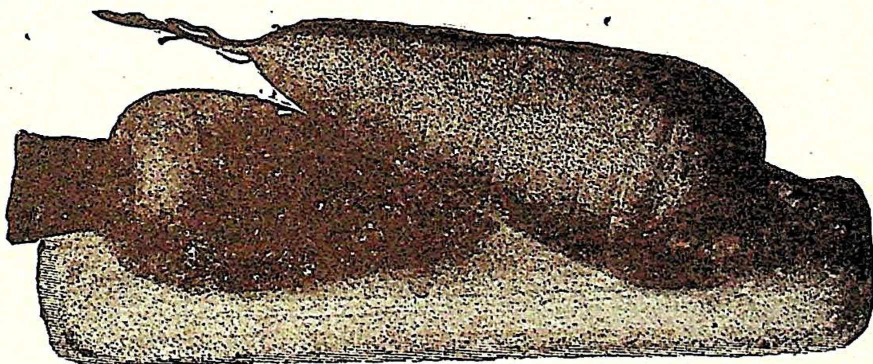
श्रीलक्ष्मीनारायण शर्म्मा

सिद्धलक्ष्मी प्रेस, चौक (फुहारा), काशी।





गृञ्जन



गाजर

[देखिये पृष्ठ १७ 'गृञ्जन क्या है']

विषय-सूची।

१—वैदिक प्रार्थना १
श्रीयुत् काशीनाथजी अग्निहोत्री, वेदाचार्य

२—वनौषधि-प्रार्थना २
प्रोफेसर जगन्नाथ शर्म्मा वाजपेयी, बी० ए०, आयुर्वेदाचार्य

३—शुभाशीर्वाद ३
श्रीयुत् कविराज डा० गणनाथ सेन, एम० ए०, एल० एम० एस०, महामहोपाध्याय, विद्यानिधि

४—शुभकामना ४
प्रोफेसर डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा, बी० एस-सी०, एम० बी०, बी० एस०

५—कर्णिकार ५
श्रीयुत् चन्द्रशेखरधर मिश्र, चिकित्सक-चूड़ामणि

६—बकुल ६
राय बहादुर राजा शशिशेखरेश्वर देव शर्म्मा

७—वनौषधि का अर्थ ८
प्रोफेसर श्रीजगन्नाथ शर्म्मा वाजपेयी, आयुर्वेदाचार्य बी० ए०

८—तुलसी ९
श्रीयुत् रूपलालवैश्य, सम्पादक, बूटी-दर्पण,

९—गोबर की रामकहानी १५
श्रीयुत् शिवपूजन सहाय

१०—गृञ्जन क्या है? १७
आ० महामहोपाध्याय भगीरथस्वामी

११—हृत्-पत्रिका २०
कविराज प्रतापसिंह, रसायनाचार्य

१२—सुश्रुत के क्षार २१
प्रोफेसर दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णी, एम० एस-सी०, आयुर्वेदाचार्य

१३—द्रोण पुष्पी २३
प्रोफेसर राजेश्वरदत्त शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य

१४—भारत के चिकित्सोपयोगी पौधे २५
प्रोफेसर बलवन्तसिंह, एम० एस-सी०

१५—वनस्पति-चिकित्सा २९
श्रीयुत् चन्द्रदत्त शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य

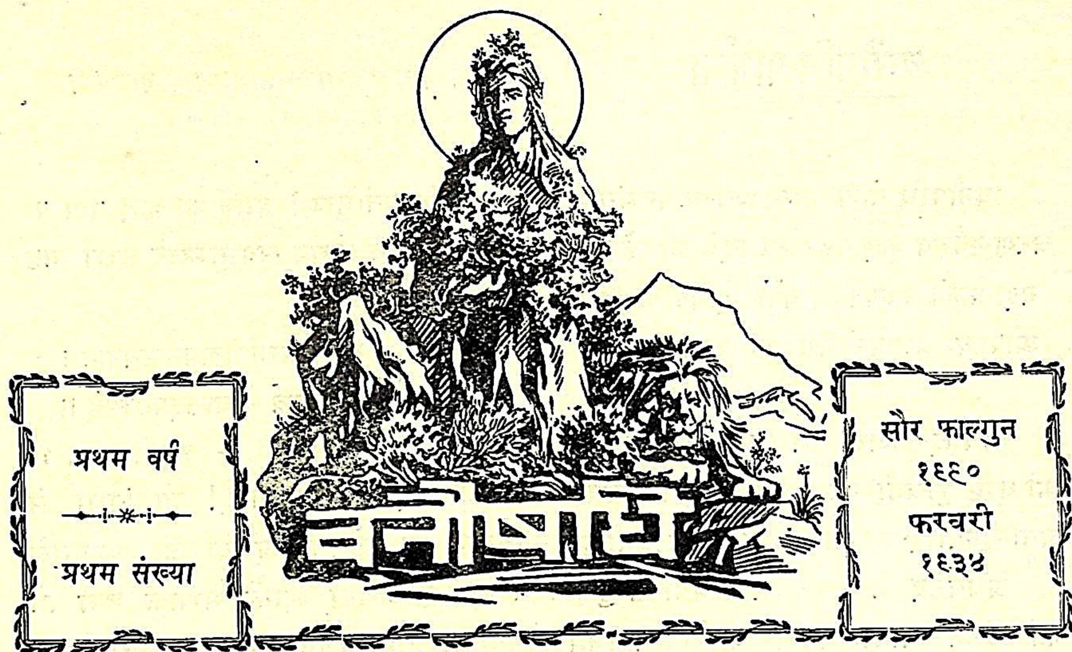
१६—आत्मनिवेदन ३२

अगले अङ्क के कुछ नवीन स्तम्भ

(१) 'जिज्ञासा'—आयुर्वेद सम्बन्धी प्रश्न
(२) 'समाधान'—प्रश्नों के उत्तर
(३) 'अनुभूति'—अनुभूत योग (नुस्खे)
(४) 'आयुर्वेदिक जगत्'—आयुर्वेदिक समाचार-संकलन
(५) 'पुष्पस्तवक'—सामयिक पत्रों और पुस्तकों से उपयोगी विचारों का संग्रह
(६) 'अभिमत'—पुस्तकों, पत्रों और प्रयोगों आदि की समालोचना
(७) 'मन्तव्य'—सम्पादकीय टिप्पणियाँ

अगले अङ्क के कुछ लेख और लेखक

(१) पाश्चात्य चिकित्सापद्धति और भारतीय वनौषधियाँ—डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा, एम. बी., बी. एस., बी. एस-सी. चीफ मेडिकल आफिसर
(२) होमियोपैथी और भारतीय वनौषधियाँ—डा० लक्ष्मीनारायण 'सरोज'
(३) मेरे कुछ अनुभव—प्रिन्सिपल धर्मदास कविराज
(४) दूर्वा—राजा शशिशेखरेश्वर रायबहादुर
(५) आयुर्वेदिक पञ्चलक्षणी—आचार्य श्री दामोदरलाल गोस्वामी



वैदिक प्रार्थना

ओ३म् पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलं माहिꣳसिषं व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देवसवितः परमस्यां पृथिव्याꣳशतेन पाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक्।

—यजुर्वेद, १, २५

हे देवताओं की यज्ञस्थानरूपिणि ! हे पृथिवि ! तुम्हारे औषधि के मूल का नाश मैं नहीं कर सकता हूँ। हे औषधि ! तुम उस गौओं के स्थान (गोशाला) को जाओ जहाँ गौएँ रहती हैं। हे औषधि ! तुमपर आकाश से वृष्टि हो। हे सूर्यदेव ! अन्धकारमयी पृथ्वी पर उन्हें रोगरूपी पाशों से बाँधो, जो हमारे शत्रु हैं—हमारा सर्वनाश करते हैं, औरजिनसे हम द्वेष करते हैं।

अहिताग्नि—श्रीकाशीनाथ शर्म्मा, वेदाचार्य

वनौषधि-प्रार्थना

संकलयिता—श्रीजगन्नाथप्रसाद वाजपेयी
आयुर्वेदाचार्य, बी० ए०

'वनौषधि' के शुभ जन्म अवसर पर मंगलाचरण-स्वरूप कुछ वेद-मन्त्र दिये जा रहे हैं।

यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम्।
ओषधयः प्रजायन्तेऽथो याः काश्च वीरुधः॥

—अथर्व ११, २, ६, ७

अर्थात्—जिस समय प्राण-स्वरूप जल की वृष्टि पृथिवी पर होती है उसी समय लता-गुल्मादि-रूप औषधियाँ उत्पन्न होती हैं।

अथर्ववेद में अनेक औषधियों के गुणों का वर्णन स्थान-स्थान पर आता है। उनमें से कुछ प्रसिद्ध औषधियों के मन्त्र नीचे दिये जाते हैं—

अपामार्गोपमाष्टुं क्षेत्रियं शपथश्च यः।
अपाह यातुधानीरप सर्वा अराय्यः॥

—अथर्व, ४, ४, १९, ७

अर्थात्—हे अपामार्ग! क्षेत्रिय (माता-पिता से आगत) रोगों तथा शत्रुओं द्वारा दिये हुए शाप को और कान्तिनाशक यातुधानों (पिशाच, राक्षस व रोगजनक जीवाणुओं) को नष्ट करो।

प्रतीचीनफलो हि त्वमपामार्ग! रुरोहिथ।
सर्वान् मच्छपथाँ अधिवरी यो यावया इतः॥
यद्दुष्कृतं यच्छमलं यद्वाचेरिमपापया।
त्वया तद्विश्वतोमुखापामार्गापमृज्महे॥

—अथर्व ७, ६, ६७, १, २

अर्थात्—हे अपामार्ग (पाप-रोग-मार्जन-साधन)! आप अधोमुख फलयुक्त उत्पन्न होते हैं। आप हमारे सब पाप दूर करें। हे विश्वतोमुख! हमने जो कुछ पाप या दुराचार किये हैं वह सब तुम्हारे द्वारा नष्ट करते हैं।

क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम्।
अपामार्ग त्वया सर्वं वयन्तदपमृज्महे॥

—अथर्व, ४, ४, १७

अर्थात्—हे अपामार्ग! जो क्षुधा से विकल हो रहे हैं, अथवा जो तृष्णा से पीड़ित हैं, अर्थात् जिन्हें भस्मक रोग हो गया है, अथवा जिनकी तृषा बढ़ रही है, जो बोल नहीं सकते तथा जिनके सन्तान नहीं होती, उन सभी के दोष तुम्हारे द्वारा दूर करता हूँ।

रोहिण्यसि रोहिण्यस्थनश्छिन्नस्य रोहिणी।
रोहयेदमरुन्धति।

—अथर्व, ४, ३, १२, १, ७

अर्थ—हे रोहिणि, लोहितवर्णे, लाक्षे! आप सद्यः व्रण को भरनेवाली तथा टूटी हड्डी को जोड़नेवाली हैं, अतः इस व्रण को भर दीजिये।

यदि कर्तं पतित्वा संशश्रेय दिवाश्मा प्रहृतो जघान।
ऋभू रथस्येवाङ्गानि सन्दधत् परुषा परुः॥

अर्थ—यदि शस्त्र द्वारा कट जाने से रक्त बह रहा है, अथवा पत्थर आदि से चोट लगकर भग्न हो गया है, तो वे सभी यथास्थान जुड़ जाते हैं और रक्त बन्द हो जाता है। जैसे महर्षि ऋभु रथ के अङ्गों को जोड़ देते हैं।

शुभाशीर्वाद

म० म० कविराज गणनाथ सेन सरस्वती,
एम० ए०, एल० एम० एस०

प्राण वनौषधिमय है। वन में वास कर इन वनौषधियों में ही महर्षियों ने आयुर्वेद को प्राण-प्रतिष्ठा की थी। इन वनौषधियों के प्रभाव से ही सहस्रों विद्वान् और अपठित चिकित्सक, जगत् में अपना प्रभाव दिखा रहे हैं। यह वनौषधियों की ही महत्ता है कि आयुर्वेद ने इस दुर्दिन में भी केवल अपना अस्तित्व ही नहीं बना रक्खा है, प्रत्युत सम्पूर्ण चिकित्सा-जगत् का शिरोभूषण भी है। इन वनौषधियों से ही आयुर्वेद के ज्ञान-विज्ञान और अन्तिम प्रयोग-रहस्य निकलते हैं; अतएव वनौषधियों का सम्पूर्ण परिचय प्राप्त करना एवं उनके स्वरूप और गुणों की पूर्ण गवेषणा करना केवल वैद्यों को ही नहीं वरन् चिकित्सक मात्र को उचित है। अतः हम 'वनौषधि' का स्वागत और उसके दीर्घजीवन की कामना करते हैं।

बहुत दुःख के साथ कहना पड़ता है कि मासिक पत्रिकाओं को अच्छे लेख नहीं मिलते और अन्त में उन्हें अधम कोटि के लेखों से कलेवर भरना पड़ता है! हम चाहते हैं कि 'वनौषधि' में यह लाञ्छन न लगे। वनौषधियों का रूप चित्रादि से भी प्रकट किया जाय।

वैद्यों को चाहिये कि रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव आदि का वर्णन स्वयं अपने ऊपर अनुभव करने के बाद करें। हमारा प्रधान उद्देश्य यही होना चाहिये। मेरी धारणा है कि वर्तमान समय में कुत्ते, बन्दर आदि पर औषधियों का प्रयोग कर मनुष्य-शरीर के हानि-लाभ का जो सिद्धान्त स्थिर किया जाता है वह भ्रमपूर्ण होता है। इसलिये ऋषिकल्पित योगों का अनुभव करके लाभालाभ का वर्णन करना ही उचित है।

एक बात और! हमारा ध्यान योगों की उन त्रुटियों पर भी होना चाहिये जिनसे जनसमाज का अकल्याण हो सकता है। लाभ के साथ उन त्रुटियों के प्रकाशित करने की प्रणाली भी बहुत अच्छी है। ऐसा करने से इस पत्रिका का प्रचार अधिक होगा और जबतक इसका यह उद्देश्य बना रहेगा तबतक यह दिनों-दिन बढ़ती ही जायगी।

आयुर्वेद में रास्ना, तगर, अष्टवर्ग आदि अनेक भेषज सन्दिग्ध हैं। भिन्न भिन्न प्रान्तों में एक ही नाम की विविध औषधियाँ बर्ती जाती हैं। अतः वनौषधियों का स्वरूप-निर्णय करना परम आवश्यक है। इसके लिये "वनौषधि" के कार्य-कर्त्ताओं को एक सङ्ग्रहालय स्थापित करना चाहिये जिसमें विभिन्न प्रान्तों में व्यवहृत होने वाली औषधियों का सङ्ग्रह रहना चाहिये।† इस प्रकार पुनीत काशी नगरी में आनेवाले अनेक वैद्यों की सम्मति ली जा सकती है जिससे वनौषधि निर्णय में बहुत सहायता मिल सकेगी।

हिमालय आदि स्थानों में बहुत सी वनौषधियाँ पैदा होती हैं जिनका उपयोग विदेशी चिकित्सक कर रहे हैं, किन्तु आयुर्वेद उससे वञ्चित है, यह हमारी अदूरदर्शिता और आलस्य का परिणाम है। हमारे पूर्व-आचार्यों ने अपना उद्देश्य विस्तृत रखा था और उन्होंने अपने सङ्ग्रह में चोपचीनी, रेवन्दचीनी, पारसीक-यमानी आदि को भी स्थान दिया था। अतः हम लोगों को भी चाहिये कि उन वनौषधियों से लाभ उठा कर जन और धन को बचावें।

अन्त में हम आशीर्वाद देते हैं कि "वनौषधि" पुष्प-फलवती होकर अपने सौरभ से दिग्दिगन्त को सुरभित करे।

वनौषधीनामिह पत्रिकेयं पुष्पैः फलैरस्तु समृद्धरूपा
निरन्तर रोगहरं प्रजानां आमोदराशीं वितरत्वपूर्वम्।

† इस प्रकार के एक सर्वाङ्गपूर्ण सङ्ग्रहालय का प्रबन्ध किया जा रहा है। —सम्पादक

शुभ कामना

प्रोफेसर—डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा
बी-एस्० सी०, एम्० बी० बी० एस्०

हमारा देश जड़ी-बूटियों से सम्पन्न है। हिमालय और विन्ध्याचल शीतवीर्य और उष्ण-वीर्य औषधियों के अक्षय-भाण्डार हैं। भारत की भूमि पदे-पदे उपयोगी पौधों से मण्डित है। आयुर्वेद की चरक सुश्रुत आदि प्राचीन संहिताओं की चिकित्सा-पद्धति पूर्णतया वनौषधियों पर ही निर्भर करती है।

प्राचीन संहिताओं में रसों का उल्लेख केवल नाम मात्र से है। इस पद्धति का प्रादुर्भाव तो केवल ३०० वर्षों के लगभग वाग्भट-काल से हुआ है। इसके पूर्व रस शब्द से यदा-कदा पारद ही व्यवहृत होता था। सम्भव है कि प्राचीन कोष-कारों ने यह व्यवहार देख कर ही रस शब्द का पर्याय "पारद" लिखा हो। आज भी भारत के अनेक स्थानों में, विशेषकर पश्चिमीय भाग में, रसों के प्रयोग उत्तम दृष्टि से नहीं देखे जाते। वहाँ यह साधारण धारणा है कि चालीस वर्ष की आयु से पूर्व रसों का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

मेरा विश्वास ही नहीं, अनुभव भी यही बतलाता है कि जहाँतक काष्ठौषधियों के प्रयोग से रोग शान्त किया जासके वहाँतक रसों का उपयोग नहीं करना चाहिये। वनौषधियों का जैसा शरीर पर उत्तम प्रभाव होता है वैसा रसों का नहीं।

किन्तु इस सम्बन्ध में सबसे बड़ी कठिनाई पड़ती है उत्तम और उचित काष्ठौषधि की प्राप्ति में। जिस प्रकार ये वस्तुयें अत्तारों की दूकानों में हँडियों में रखी रहती हैं वह अत्यन्त निन्दनीय है और इसी कारण उनसे घृणा होने लगती है। वर्षों की पुरानी औषधियों को निकाल कर, जिनमें धूल-मिट्टी और कभी-कभी मकड़ी के जाले भी मिले रहते हैं, वे लोग असली औषधि के स्थान में दे देते हैं। ऐसी औषधि भला क्या प्रभाव दिखावेगी ? इसीसे औषधि में अश्रद्धा उत्पन्न हो जाती है और चिकित्सक की भी निन्दा होती है। अतः यह बहुत आवश्यक है कि वैद्यों को इन औषधियों के उचित रूप का पूर्ण ज्ञान हो और साथही उनको यह भी मालूम हो कि अमुक औषधि अमुक स्थान में मिल सकती है। न केवल यही; किन्तु वैद्यसमाज को ऐसा आयोजन करना चाहिये कि एक ऐसी संस्था स्थापित की जावे जहाँ पर उत्तम और असली औषधियों का सङ्ग्रह रहे और वहाँ से वह उचित मूल्य पर बेची जा सके।

"वनौषधि" जैसी पत्रिका की बहुत आवश्यकता थी। यद्यपि कई आयुर्वेदीय पत्रिकाएँ निकलती हैं तथापि उनमें से कतिपय ही शायद ऐसी हों जो उच्चकोटि की पत्रिका कही जा सके और जिनका कोई विशेष लक्ष्य हो। जैसा नाम से विदित है, जहाँतक मैं समझता हूँ, 'वनौषधि' का विशेष लक्ष्य वैद्य-समाज में वनौषधियों के सम्बन्ध में ज्ञान फैलाना है। ऐसे प्रचार की बहुत बड़ी आवश्यकता है और मुझे पूर्ण आशा है कि इस अभाव की पूर्ति कर यह पत्रिका अपना नाम सार्थक करेगी और दूसरों के लिये पथप्रदर्शक बनेगी। मैं इसी कारण से इसका स्वागत करता हूँ और "चरक-अनुसन्धान भवन" को इस सराहनीय प्रयत्न के लिये बधाई देता हूँ। मेरी हार्दिक इच्छा है कि यह अपने उद्देश्य की उपलब्धि में पूर्ण सफलता प्राप्त करे।

शिवास्ते सन्तु पन्थानो देवा रक्षन्तु सर्वदा।

कर्णिकार

कवीन्द्र श्रीचन्द्रशेखरधर मिश्र
चिकित्सकचूड़ामणि

[इस लेख के लेखक भारतप्रसिद्ध 'औदुम्बर' के गुणाविष्कर्ता कवीन्द्र पं० चन्द्रशेखरधर मिश्र आयुर्वेद-संसार के ख्यातिलब्ध विद्वान् हैं। आप आयुर्वेद के प्रसिद्ध आविष्कारक हैं। आपने लाखों रुपये व्यय करके आयुर्वेद की सेवा की है। और विहारप्रान्तीय वैद्यसम्मेलन के सभापति भी हो चुके हैं। आप जैसे आयुर्वेद के विद्वान् हैं, वैसे ही संस्कृत और हिन्दी साहित्य के भी! संस्कृत के आप वस्तुतः कवीन्द्र हैं। आप भारतेन्दुजी के मित्रों में हैं। विहारप्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के भी आप सभापति हो चुके हैं और वनौषधि के संरक्षकों एवं प्रधानलेखकों में हैं—सम्पादक]

आयुर्वेद में ही नहीं, संस्कृत-साहित्य में 'कर्णिकार' एक प्रसिद्ध छोटा वृक्ष है। परिव्याध और द्रुमोत्पल या वृक्षोत्पल भी इसके नाम हैं। हिन्दी में कर्णिकार का सीधा नाम कनेर रख लिया गया है जो अनेक विद्वानों और वैद्यों का भ्रम मात्र ही नहीं, हानिकारक भी है। बहुत से वैद्यगण कर्णिकार के स्थान पर कनेर की जड़ का प्रयोग करते हैं, जो विष है। हिन्दी में भी प्रायः यही अनर्थ प्रचलित है। हिन्दी की प्रसिद्ध पत्रिका 'सरस्वती' में भी कर्णिकार का अनुवाद कनेर ही किया गया था। मोतिहारी के एक वैद्य ने किसी रजोदोष-पीड़िता स्त्री को कनेर की जड़ पीस कर पी जाने की व्यवस्था दी थी जिससे वह बेचारी भव-रोग से भी मुक्त हो गयी! यह सत्य और लज्जाजनक घटना है, कल्पना नहीं। निघण्टुकारों ने भी इसके गुण और स्वरूप के वर्णन में उलट-पुलट कर दी है।

कर्णिकार-वृक्ष नीबू के समान होता है। पत्ते चौड़े और प्रायः पलाश के ढंग के होते हैं। इसके फूल लाल रङ्ग के और डण्डियों की मृदुलता के कारण उलटे लटके होते हैं। इसीलिये बङ्गभाषा में इसे "उलट कम्बल" (उलटा हुआ कम्बल या कमल) कहते हैं। बङ्गदेश में यह अधिकता से पाया जाता है। फूल के सूख जाने पर फूल के मध्य में फल लगते हैं। वैसे तो इसके अनेक गुण हैं; परन्तु स्त्रियों के रजःकष्ट में इसका अधिक प्रयोग होता है।

आजकल प्रायः इसका अर्थ कनेर, जो वस्तुतः संस्कृत के 'करवीर' शब्द का अनुवाद है, किया जाता है। संसार में प्रतिदिन न जाने ऐसी कितनी ही भ्रमपूर्ण घटनाएँ घट जाती हैं।

कर्णिकार अतिमनोहर किन्तु निर्गन्ध होता है। कालिदास तो इसकी इस बात पर झुँझला उठे हैं। देखिये:—

वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकारं
दुनोति निर्गन्धतया स्म चेतः।
प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां
पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः॥

—कुमारसम्भव, ३ सर्ग

अर्थात्—वर्ण अत्यन्त उत्कृष्ट होने पर भी कर्णिकार का निर्गन्ध होना बहुत ही खलता है। प्रायः देखा जाता है कि ब्रह्मा की प्रवृत्ति किसी वस्तु में गुणों की पूर्णता करने में विमुख ही रहती है।

इसी प्रकार 'कर्णिकार' पर लोकोत्तर कल्पना करने के कारण संस्कृत-साहित्य-संसार में महाकवि मङ्ख 'कर्णिकार-मङ्ख' के नाम से प्रसिद्ध हो गये हैं। वे अपने महाकाव्य 'श्रीकण्ठचरित' के वसन्तवर्णन में लिखते हैं:—

विवृण्वता सौरभरोरदोषं
वन्दिव्रतं वर्णगुणैः स्पृशन्त्याः।
विकस्वरे कस्य न कर्णिकारे
घ्राणेन दृष्टेर्ववृधे विवादः॥

—श्रीकण्ठचरित, ५ सर्ग

वकुल : मौलसरी

श्रीयुत् रायबहादुर राजा शशिशेखरेश्वरदेव शर्म्मा

" वकुल के गुण आयुर्व्वेदमें कहे गये हैं :-

''वकुलस्तुवरोऽनुष्णः कटु-पाक-रसो गुरुः
कफ-पित्त-विष-श्वित्र-क्रिमि-दन्तगदापहः ।
मधुरञ्च कषायञ्च स्निग्धं संग्राहि वाकुलम् ।
स्थिरीकरश्च दन्तानां विशदं फलमुच्यते ॥"

"अर्थात्—वकुल, कषाय, कटुविपाक, अनुष्ण तथा गुरु है। यह कफ, पित्त, विष, श्वित्र, क्रिमि और दन्त-रोगनाशक है। वकुल का फल मधुर-कषाय-रस; स्निग्ध, मलसंग्राहक, विशद तथा दाँतों को दृढ़ करने वाला है।

"डाक्टर आयेरिङ्ग साहब ने अपने रचे हुए फारमाकोपोया आफ इण्डिया (Pharmacopoeia of India) नामक पुस्तक में वकुलका उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है वकुल छाल में ज्वरनिवारकशक्ति है, विशेषतः वह संग्राहक-गुणविशिष्ट होता है इसी कारण उदरामययुक्त ज्वर में वकुल की छालका काढ़ा अनेक स्थानों में विशेष गुणदायक हो जाता है। मुँह से अधिक परिमाणमें लार टपकनेपर मौलश्रीकी छालका काढ़ा मुँहमें भरकर कुल्ला करनेसे उसका प्रतिकार हो जाता है।

"वकुल-वृक्षसे सम्बन्ध रखनेवाली एक अत्यन्त ही प्रशंसाकी बात यह है कि वह सालमें दो बार फूलता-फलता है और प्रतिवार ही ढेरके ढेर सुमनोहर नन्हें नन्हें श्वेत रंगके पुष्प प्रदान करता है। वकुल पुष्पकी जैसी सुमधुर भीनी गन्ध है वैसा ही वकुल-वृक्ष देखनेमें भी अत्यन्त सुन्दर है। वकुलका वृक्ष जिस प्रकार हिन्दुओं के देवमन्दिरोंके पास उत्पन्न होकर उनकी शोभा बढ़ाता है, उसी प्रकार मुसलमानों की मसजिद के चारों ओर भी उसे अनेक स्थानों में यत्न-पूर्व्वक रक्षित होते देखा जाता है।

"वकुलके बीजमेंसे प्रचुर परिमाण में तैल संग्रह किया जाता है और वह तैल चित्रकारी के रंगमें मिलाने के काम में बहुत किया जाता है।

"संस्कृतके कोषों में वकुल का नाम 'स्त्रीमुखमधु' और दूसरा नाम 'मदन'! है पुराणादिमें इसका मधुपुष्प स्वरूप भी वर्णन किया गया है। उसके ये सब नाम मनोवृत्ति-विशेषको उत्तेजित करनेकी शक्ति-में से समुत्पन्न हुए हैं या नहीं, यह तो हम नहीं कह सकते, किन्तु वकुल कृष्णप्रेम में विमुग्ध गोपवधुओं का चित्त किसी समय अत्यन्त व्याकुल कर डालता था, अनेक प्राचीन वैष्णवोंके गीत आदिमें, इसके विलक्षण प्रमाण मिलते हैं। वामनपुराणके एक स्थान-पर वकुलादि पञ्चपुष्प-वृक्षोंके जन्म वृत्तान्तके सम्बन्धमें लिखा हुआ है।

(पृष्ठ ५ का शेषांश)

अर्थात्—खिले हुए कर्णिकार को देखकर किसकी आँखों और नाक में विवाद नहीं होता था; क्योंकि आँखें तो उसके बाह्य-सौन्दर्य पर मुग्ध होकर वन्दीजनों की भाँति प्रशंसा करती थीं और नाक कहती थी कि यह कुछ नहीं—यह निर्गन्ध और व्यर्थ है।

तात्पर्य यह कि वसन्त में खिलनेवाले इस वृत्तकमल का स्थान आयुर्वेद-संसार में ही नहीं, वरन् संस्कृत-साहित्य-संसार में भी है। फिर भी इस प्रसिद्ध और बाँझपन की परम महौषधि के नाम पर विष-प्रयोग किया जाता है। वैद्य महानुभावों को इसका समुचित प्रयोग और प्रचार करना चाहिये।

योग-मग्न होनेपर महादेव इतस्ततः विचरण कर रहे थे, उस समय कामदेव पुनः धनुष लेकर महादेवजी के सामने बहुत दूर पर जाकर खड़ा हो गया और उन्हें पुष्प-शर सन्धान (कामवेदना) से सन्तापित करनेके लिये उद्यत हुआ। शिवजी ने उस समय मदन को सामने देखकर उसकी ओर क्रुद्ध नेत्रसे दृष्टिपात किया। शिवजीकी उक्त क्रोधदृष्टि के पड़ते ही शुष्कतृणके सदृश मदन के दोनों पाँव जल उठे इस विपद्से अब निस्तार नहीं होनेका है, यह समझ कन्दर्पने अपने उत्कृष्ट धनुषको पृथिवीपर फेंक दिया। वह धनुष उस समय पाँच भागोंमें टूटकर मिट्टीमें गिरा और उसमेंसे चम्पा, बकुल, पाटला, जाती, और मल्लिका इन पञ्च प्रकार के पुष्पोंकी उत्पत्ति हुई है।

"पुराण-शास्त्र के अनुसार चम्पा, बकुल, पाटला जाति तथा मल्लिका आदि पुष्पवृक्षों की स्थूल उत्पत्ति का विवरण ऐसा ही है। इन पाँचो फूलों के वृन्तों के सङ्ग मनुष्यों की मनो-वृत्ति विशेष को उत्तेजन करने का कुछ न कुछ निगूढ़ सम्बन्ध है। इस विषय को उद्भिद विद्याविद् तथा मानवमनोतत्वविद् भावुक के निगूढ़ अनुसन्धान का फल पाश्चात्य ग्रन्थ-कारों के किसी ग्रन्थ में आज भी न देख सकने पर हम लोगों के प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में किसी किसी स्थान पर कुछ थोड़ा बहुत परिस्फुट होते देखा गया है। 'सरस्वती कण्ठाभरण' के एकांश में इस तत्व का थोड़ा बहुत विकाश देखा जा सकता है।

वनौषधि का अर्थ

प्रोफेसर--श्रीजगन्नाथ शर्म्मा वाजपेयी,
आयुर्वेदाचार्य, बी० ए०

यह शब्द वन और औषधि दो शब्दों के समास से बना है। वन का अर्थ कोषकारों ने वृक्षसमूह, निवास, आश्रय तथा जल किया है। इसमें यद्यपि वृक्षसमूह अर्थ मुख्य और अन्य अर्थ गौण हैं, तथापि प्रकरणवशात् सभी अर्थ लिये जाते हैं। यहाँ पर वृक्षसमूह अर्थ लेना तो ठीक ही है; किन्तु दूसरे अर्थ लेने से "वनौषधि" शब्द का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है। निवास या आश्रय अर्थ करने पर यहाँ यह अर्थ हो जाता है कि "मनुष्यों के निवास-स्थान की औषधियाँ।" "निवास-स्थान" अर्थ करना अनुचित नहीं कहा जा सकता। मनुष्य के वास्तविक तथा प्राचीन निवास-स्थान वन ही हैं। यह बात महर्षि अग्निवेश के निम्नलिखित सूत्र से पूर्णतया सिद्ध हो जाता है—

ऋषयः खलु कदाचिच्छालीना यायावराश्च ग्राम्यौषध्याहाराः सन्तः साम्पन्निकाः, मन्दचेष्टा नातिकल्याणाश्च प्रायेण बभूवुः। ते सर्वासामितिकर्त्तव्यतानामसमर्थाः सन्तो ग्राम्यवासकृतं दोषं मत्वा शिवं पुण्यमुदारं मेध्यमगम्यमसुकृतिभिर्गङ्गाप्रभवममर-गन्धर्व यक्ष-किन्नरानुचरितमनेकरत्ननिचयमचिन्त्याद्भुतप्रभावं ब्रह्मर्षिसिद्धचारणानुचरितं दिव्य-तीर्थौषधिप्रभवमतिशरण्यं हिमवन्तममराधिपतिगुप्तं जग्मुः, भृग्वङ्गिरोऽत्रिवशिष्ठकश्य-पागस्त्य पुलस्त्यवामदेवासितगौतमप्रभृतयो महर्षयः।

अन्यच्च—ग्राम्यो हि वासो मूलमशस्तानाम्।

गृहस्थाश्रम के भार-वहन से व्याकुल पुरुषों के लिये वन ही शरण्य था। मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्रजी को तो युवावस्था में ही उसे अपना आश्रम बनाना पड़ा था। उस वास्तविक निवास-स्थान को छोड़कर मनुष्य जितने ही अधिक घने ग्राम तथा नगर बनाता गया, उतने ही अधिक रोगों का घर स्वयं बनता गया।

वास्तव में वन-जीवन का एक देश ही समझना चाहिये। राजयक्ष्मा सदृश रोगी ही नहीं; अपितु कुटुम्ब-घाती रोगों के लिये वन-सेवन के समान दूसरी चिकित्सा ही नहीं। वन का पर्य्यायवाची जल है और जल जीवन का वाचक है, अतः परम्परया वन जीवन का भी वाचक है। यही नहीं, "नामैकदेशग्रहणे नाममात्रस्य ग्रहणम्" इस सिद्धान्त से वन के उच्चारण मात्र से जीवन का बोध हो जाता है। जीवनी शक्ति प्रदान करने के कारण जीवन और वन एक ही कहे जाँय तो अनुचित न होगा।

अब दूसरे शब्द औषधि की ओर ध्यान दीजिये। "औषध्यः फलपाकान्ताः" के अनुसार औषधि शब्द यद्यपि व्रीहि, यव या शालपर्णी आदि फल पाक के अनन्तर नष्ट हो जाने वाले द्रव्यों का ही वाचक है तथापि यह शब्द आयुर्वेद में द्रव्य मात्र के लिये प्रयुक्त हुआ है। यथा—

सुवर्णसमलाः पञ्च लोहाः ....

भौममौषधमुद्दिष्टमौद्भिदन्तु चतुर्विधम्।

औषध के गुण के सम्बन्ध में महर्षि अग्निवेश लिखते हैं—

यथा विषं यथा शस्त्रं यथाऽग्निरशनिर्यथा।

तथौषधमविज्ञातं विज्ञातममृतं यथा॥

वनौषधि शब्द में वनस्यौषधिः अथवा वनायौषधि दोनों समास हो सकते हैं। पहिले का अर्थ "जंगल की जड़ी-बूटियाँ" और दूसरे का "जीवन के लिये अमृत" होता है। आवृत्ति से "जंगल की जड़ी-बूटियाँ जीवन के लिये अमृत हैं" अर्थ हो जाता है। किन्तु वे अमृत तभी हो सकती हैं जब उनका ज्ञानपूर्वक प्रयोग किया जाया। महर्षि अग्निवेश कहते हैं—

न नाम-ज्ञानमात्रेण रूप-ज्ञानेन वा पुनः।

ओषधीनाम्परामप्राप्तिं कश्चिद्वेदितुमर्हति॥

योगविन्नामरूपज्ञस्तासान्तत्त्वविदुच्यते।

योगमासान्तु यो वेद देशकालोपपादितम्।

पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य स विज्ञेयो भिषक्तमः॥

किन्तु वर्तमान समय में प्रयोग की कौन कहे, अनेकों औषधियों के नाम और रूप में ही सन्देह हो गया है। रास्ना, भूम्यामलकी, शालपर्णी सदृश परमोपयोगी और प्रतिदिन काम में आने वाली औषधियों के सम्बन्ध में भी भिन्न भिन्न प्रान्तों के विद्वानों में मतभेद है। इस ओर अनुसन्धान करने की बहुत बड़ी आवश्यकता है। लाहौर से प्रकाशित होने वाले 'बूटी-दर्पण' या 'बूटी-प्रचार' ने इस दिशा में कुछ कार्य किया था पर दुर्भाग्य से वह असमय में ही बन्द हो गया। और वह कार्य अधूरा ही रह गया। अब आशा है, चरक-अनुसन्धान-भवन इस ओर दत्तदृष्टि होकर कार्य करेगा। मैं इसके सञ्चालकों को शुभाशीर्वाद देता हूँ कि वे सफल हों और उनके कार्यों में उन्नति हो।

तुलसी

श्रीयुत् रूपलाल वैश्य सम्पादक—'बूटी दर्पण'

विद्वानों का कहना है कि तुलसी एक बहुत ही पवित्र वस्तु है। इस महादिव्य और सुप्रसिद्ध महौषधि का नाम विष्णु प्रिया है। क्योंकि तुलसी श्रीविष्णुभगवान् की एक प्यारी वस्तु है। इसके विना किसी नैवेद्य को भगवान् ग्रहण नहीं करते वल्कि इसके चढ़ाने से प्रसन्न होते हैं। इसलिये प्रत्येक मन्दिर में भगवान् की मूर्ति पर तुलसी दल चढ़ाया जाता है और इसके विना विष्णुभक्त भोजन भी नहीं कर सकते। पुराणों में भी ऋषियों ने तुलसी की वड़ाई की है।

मैं भी कट्टर सनातनधर्मी हूँ। परन्तु यह बात समझ में नहीं आती कि जो वस्तु विष्णुभगवान् को इतनी प्रिय है वह प्रसाद के साथ अल्प मात्रा में क्यों दी जाती है? इस सुलभ वस्तु को जितना चाहे उतना उत्पन्न और सङ्ग्रह कर सकते हैं और जितनी इच्छा हो विष्णुभगवान् पर चढ़ा सकते हैं फिर भी थोड़ी मात्रा से विष्णुभगवान् की सेवा क्यों की जाती है। क्यों नहीं वैष्णव लोग भी इसी का पूरा भोजन करते हैं? मैं तो यही समझता हूँ कि इसके गुण पर मुग्ध होकर ऋषियों ने एक धार्मिक रहस्य बना दिया है जिसमें लोग घर घर इसका रोपण करके सुरक्षित रक्खें। तुलसी दल की औषधि रूप स्वल्प मात्रा, सेवन करने से रोगी अथवा निरोगी सभी के लिये लाभकारिणी होती है। इसलिये विष्णुभगवान् को धार्मिक रूप से तुलसीदल अल्प मात्रा में चढ़ाया जाता है और इसी प्रकार वैष्णव लोग भी अल्पमात्रा में इसका प्रसाद पाते हैं।

कई प्रकार की तुलसियों में सफेद और काली तुलसी सुलभ और प्रसिद्ध है।

अनेक भाषा के नाम

तुलसी सुरसा ग्राम्या सुलभा बहुमञ्जरी।
अपेत-राक्षसी गौरी शूलघ्नी देवदुन्दुभिः॥

सं०। तुलसी, सुरसा, ग्राम्या, सुलभा, बहुमञ्जरी, अपेतराक्षसी, गौरी, शूलघ्नी देवदुन्दुभिः।
हि०। तुलसी, वरंडा, कामी तुलसी।
ब०। तुलसी, काल तुलसी।
म०। तुलसी चे झाड़।
तै०। कृष्ण, गडोरचेट्टु, इयुलसो, तुलसीचेट्टु, कृष्ण तुलसी।
ता०। तुलशी, अलंगइ, पिरुन्दम।
द्रा०। तुल्सी।
क०। एरेड तुलसी, तुलसि, तुलसी गिडा।
म०। तुलस।
गु०। तुलस।
प०। तुलसी, वन तुलसी।
मला०। नियल्ल तिरतुआ, नल्लु तिरत, कृष्ण तुलसी।
ब्राह्मी०। लुन
सिंह०। मुदुर तुल्ल।
फा०। रेहां, रेहान, शाह सिपरम्।
अ०। तुलसी बदरुने, शाह शफरम्।
अं०। White basil, Holy Basil, Purple Basil.

ले० । Ocinum, Sanctum, सफेद तुलसी ।
„ Ocinum, Dilosum, काली तुलसी ।

तुलसी प्रायः सभी गरम और साधारण प्रान्तों में उत्पन्न होती है । इसे वाटिका या घर में भी रोपण करते हैं । इसका प्रायः सनातनी हिन्दू के घर घर प्रचार है । इसको सभी लोग भलीभाँति जानते हैं ।

यह क्षुप जाति की महौषधि २-३ फीट तक ऊँची होती है । शाखाएँ सीधी फैली हुई सघन और झाड़दार रहती हैं । पत्ते १, १॥ इंच लम्बे, अण्डाकार, अनीदार और बारीक कंगूरदार होते हैं । शाखाओं के अन्त में फूलों की मञ्जरियाँ लगती हैं । इसके सर्वाङ्ग में तीव्र गन्ध होती है । सफेद तुलसी के पत्ते हरे और डण्डियाँ फीकी हरे रङ्ग की होती हैं, तथा काली तुलसी के पत्ते किञ्चित् हरे और बैंगनी रङ्ग के होते हैं ।

गुणदोष—चरपरी, कड़वी, गरम, तीखी, दीपन, दाहकारी, पितकारी, कसैली, हलकी, हृदय को हितकारी तथा कोढ़, रुधिरविकार, सुजाक, पार्श्वशूल, कफ, वात, श्वास, खांसी, हिक्का, कृमि, वमन, दुर्गन्ध, विष, भूतबाधा, शूल, ज्वर और हिचकी का नाश करने वाली है ।

यूनानी मत से गुणदोष—पहले दर्जे में गरम और दूसरे में रूक्ष, मस्तिष्क के रोध की उद्-घाटक, शोथ की नाशक, वायु की लयकारी, हृदय को व्याकुलता और आमाशय के मान्द्य की हरण करने वाली, सान्द्र रुधिर विकार की नाशक है । इसका घर में रखना, जीव, जन्तु और विशेष कर खटमल तथा जूँओं का नाशक, महामारी के वायु से संरक्षण करने वाला, वायु को शुद्ध करने वाला तथा मस्तिष्क को हानिकारक, दर्प-नाशक होता है ।

प्रयोग—१. तुलसी एक बहुत उपयोगी महौषधि है । रोगों को दूर करने में जितना यह काम देती है उतना अन्य कोई औषधि काम नहीं करती । सफेद और काली तुलसी दोनों गुणों में प्रायः एक समान हैं, किन्तु काली तुलसी अधिक प्रभावशालिनी समझी जाती है । पत्ते कृमि नाशक होते हैं । वृक्षों के पास मच्छर नहीं ठहरते । काली तुलसी का रस शरीर पर लगाने से मच्छर नहीं काटते तथा मच्छरों के काटने से होने वाला मलेरिया ज्वर आक्रमण नहीं कर सकता । मकान के चारों ओर तुलसी के बहुत वृक्ष होने से मच्छरों का उपद्रव बहुत कम हो जाता है । मेस्मरेजिम के प्रयोग में इसकी लकड़ी बहुत काम देती है । जहाँ पर तुलसी के पौधे होते हैं वहाँ साँप नहीं आता ।

२. सर्प दंश पर इसका अच्छा उपयोग होता है । दो तोले पत्ते १०-१५ काली मिर्चों के साथ पीस कर पिलाने से तथा पत्ते और जड़ को पीस कर दष्ट-स्थान पर लगाने से लाभ होता है । अथवा सर्प-दष्ट मनुष्य को एक दो मुट्ठी भर तुलसीपत्र खिलाना चाहिये और इसकी जड़ को मक्खन में पीस कर कटे स्थान पर लगाना चाहिये । इससे विष निकल जाता है । यह लेप पहले सफेद रङ्ग का रहता है किन्तु विष-शोषण करने से काले रङ्ग का हो जाता है । उस समय फिर दूसरा लेप लगाना उचित है । इस प्रकार किये जाने से सर्प दष्ट मनुष्य आरोग्य लाभ करता है । श्री महादेव पार्वती का ध्यान कर दुअन्नी भर तुलसी की जड़ को पानी में पीस कर सर्प-दष्ट

स्थान पर लगाने से और उसके पत्तों को निचोड़ कर निकाला हुआ रस कान और नाक में अच्छी तरह भर देने से ईश्वर कृपा से सर्प-दष्ट मनुष्य अवश्य अच्छा हो जाता है।

३. प्रतिश्याय (जुकाम) पर इसका स्वरस पिलाना लाभप्रद है। नाक से दुर्गन्धियुक्त श्राव अथवा पीनस में इसके सूखे पत्तों की नस्य से आराम मिलता है।

४. आमाशय के शूल में पत्तों का फान्ट (चाय) पिलाया जाता है।

५. अडूसा और तुलसी के पत्तों का रस पिलाने से खाँसी आराम होती है।

६. इसका रस मर्दन करने से दाद और त्वचा रोग अच्छा होता है।

इस लेख में अन्वेषक विद्वान् ने तुलसी का विस्तृत परिचय देने के साथ साथ इसके ६४ प्रयोग लिखे हैं जो प्रत्येक हिन्दू गृहस्थ के लिये परम सुलभ और उपयुक्त हैं। खेद है कि ऐसे उत्तम और पवित्र अमृत के रहते हुए भी एकमात्र अज्ञान के कारण हम भारतीय, विदेशी-दवाओं का पान करते हैं।

इस लेख के लेखक भारतवर्ष के प्रसिद्ध वनौषधि-वैज्ञानिक हैं। आपने अपने जीवन के तीस वर्ष निरन्तर वनौषधियों के अन्वेषण में लगा दिये हैं। आप इसी विषय के 'बूटीदर्पण' और 'बूटीप्रचार' नामक पत्रों के सम्पादक भी रहे हैं। आपके द्वारा लिखित 'रूप-निघण्टु-कोष' काशी की नागरी-प्रचारिणी-सभा द्वारा प्रकाशित हो रहा है। आप इस विषय के बड़े ही अन्वेषक और माने हुए विद्वान् हैं और इस पत्रिका के प्रधान लेखक हैं।

७. बालक के यकृत् सम्बन्धी रोग पर इसका फान्ट पिलाया जाता है।

८. बालक के उदरशूल पर इसके रस में सोंठ का चूर्ण मिलाकर देने से शूल का नाश होता है।

९. कर्ण-पीड़ा में पत्तों का रस कान में डालने से पीड़ा की शान्ति होती है।

१०. पत्तों का फान्ट पिलाने से बालक को दस्त आते हैं।

११. रस में मधु मिला कर देने से बालक का स्वास आराम होता है।

१२. पसीना लाकर ज्वर उतारने के लिये पत्तों का काढ़ा दिया जाता है।

१३. पित्तवृद्धि के लिये पत्तों का रस पिलाया जाता है।

१४. ज्वर की घबड़ाहट पर पत्तों का शर्बत पिलाने से लाभ होता है।

१५. दन्तपीड़ा पर पत्तों और मिर्चा की गोली बना कर दाँतों तले दबाना चाहिये।

१६. वात रोग पर इसके रस में काली मिर्च का चूर्ण और घी मिलाकर सेवन करने से लाभ होता है।

१७. इसके रस में इलायचीदाने का चूर्ण मिला कर सेवन करने से वात और पित्त के वमन शान्त होते हैं।

१८. मुख की कान्ति बढ़ाने के लिये इसके सूखे पत्तों का उबटन लगाना चाहिये।

१९. कान के पीछे की सूजन पर सम भाग इसके पत्ते और एरण्ड के कोपलों को पीस नमक मिलाकर गुनगुना लेप करने से लाभ होता है।

२०. बिच्छू और बर्रे के दंश पर दो तोले पत्ते १०-१५ काली मिर्चों के साथ पीस कर पिलाने से तथा पत्ते और जड़ को पीस कर दष्ट स्थान पर लगाने से पीड़ा शान्त होती है।

२१. खाँसी, जीर्णज्वर और छाती के दर्द

पर इसके पत्तों के रस में मिश्री का चूर्ण और मिश्री मिला कर पान करने से लाभ होता है।

२२. वातज और कफज उन्माद में इसके पत्ते को सूँघने, लगाने तथा खिलाने से बहुत फायदा होता है।

२३. प्लेग में तुलसी दल को काली मिर्च और मिश्री के साथ खिलाने और पत्ते को शरीर पर लगाने से आराम होता है।

२४. शोथ पर पत्ते को पीस कर लगाने से शोथ का नाश होता है।

२५. कुष्ठ में पत्ते का सेवन और लेप हितकारी होता है।

२६. मूत्ररोग में नीबू के रस के साथ सेवन करने से लाभ होता है।

२७. पत्ती को चबाने से जीभ और होठ के छाले दूर होते हैं। मुख की बदबू नष्ट होती है, मसूढ़े और दाँत दृढ़ होते हैं, दाँतों के दूषित रोग दूर होते हैं तथा गला साफ हो जाता है।

२८. इसको पीस कर पीने से पाचन शक्ति बढ़ती है, वायु शुद्ध होता है, शुद्धरुधिर उत्पन्न होता है।

२९. यकृत्, प्लीहा और बवासीर में इसके खाने और लगाने से लाभ होता है।

३०. पत्तों का चूर्ण छिटकने से घाव के कीड़े मर जाते हैं।

३१. विशूचिका में पत्ते और काली मिर्चों की गोली उपकारिणी होती है।

३२. प्लेग पर तुलसी के पत्ते दौने के पत्ते का घी और छोटी पीपल-प्रत्येक १ तोला तथा शुद्ध कपूर ३ माशे, नीम के कोपलों के रस से खरल कर ४-४ रत्ती की गोलियाँ बना कर साधारण ज्वर में ४ गोली ३-३ घन्टे पर और तीव्रज्वर में २-२ घन्टे पर देना चाहिये।

३३. हरताल को कच्ची भस्म के खाने से उत्पन्न हुए विकारों पर इसके पत्ते एक छटाँक की मात्रा से एक सप्ताह सेवन करने से लाभ प्रतीत होता है।

३४. तुलसी के पत्तों का रस, आदी का रस और पुष्कर मूल मिला कर कुछ गरम कर गाढ़ा लेप करने से पार्श्ववेदना दूर होती है।

३५. तुलसी की मञ्जरी को आदी के रस में पीस कर शहद के साथ खाने से खाँसी दूर होती है।

३६. पत्तों का रस और आदी का रस सम भाग से अग्नि पर कुछ गरम करके पीनेसे पेट की पीड़ा शान्त होती है।

३७. बालक का दस्त साफ न होता हो या पेट फूल जाता हो तो इसके पत्तों का गुनगुना रस पिलाने से दस्त साफ होता है। पेट फूलना आदि शिकायतें दूर होती हैं।

३८. इसके पत्तों का रस और नमक मिला कर काटी हुई जगह पर लगाने से तथा कुछ पत्ते खिलाने से बिच्छू, बर्रे, काला भौंरा आदि की वेदना दूर होती है।

३९. तुलसी के पत्तों के रस में शहद मिला कर चाटने से गले की पीड़ा दूर होती है।

४०. लू लगने पर इसके पत्तों का रस शक्कर के शर्बत में मिला कर पीने से लाभ होता है।

४१. पत्तों का रस और सेंधा नमक नाक में डालने से अपस्मार की मूर्छा तत्काल दूर होती है।

४२. पत्तों का रस १ तोला, सोंठ १ तोला,

पुराना गुड़ दो तोला—एकत्र मिला कर छोटे बैर के बराबर गोली बना कर १-१गोली सुबह, दोपहर, और संध्या समय सेवन करने से अजीर्ण, मन्दाग्नि और पेट की सब शिकायतें दूर होती हैं।

४३. पत्तों का एक मासा स्वरस नाक में डालने से मस्तक के कीड़े गिर जाते हैं।

४४. बालकों की काली खाँसी में तुलसी दल और काली मिर्च खरल कर उड़द समान वटी बना कर देना चाहिये।

४५. वातज रोगों में तुलसी और मिर्च का चूर्ण गोघृत के सङ्ग चाटने से लाभ होता है।

४६. जाड़ा देकर आने वाले विषम ज्वर में तुलसी दल ६ नग, काली मिर्च २ नग, एक तोला जल में घोट कर पीने से ज्वर आराम होता है।

४७. तीन माशे तुलसी के स्वरस को पिलाने से पसीना आकर ज्वर उतर जाता है।

४८. बिच्छू के दंश पर तुलसी दल का स्वरस शिर की तरफ से पैर की ओर मलने से और साथ ही तुलसी पत्र को चौगुना पानी में घोट कर ५-५ मिनट पर पिलाते जाने से पीड़ा शान्त होती है।

४९. सन्निपात, प्लेग आदि जहरीले ज्वर में तुलसी-पत्र, बिल्व-पत्र, पीपल-पत्र प्रत्येक १-१ छटाँक कूट कर एक सेर जल में पकावे जब छ छटाँक जल शेष रहे तब मल छान कर २॥-२॥ तोले की मात्रा २-२ घन्टे पर देने से लाभ होता है।

५०. तुलसी पत्र को माजूफल के साथ सेवन करने से [illegible] आदि आराम होते हैं।

५१. साँभर नमक के साथ तुलसीपत्र सेवन करने से बदहज़मी दूर होती है।

५२. समभाग तुलसी पत्र और मीठी वच अवस्थानुसार मात्रा बना कर शहद के साथ सेवन कराने से सभी बालग्रह अच्छे होते हैं।

५३. दो से चार रत्ती तक तुलसी के बीजों का चूर्ण पान में रख कर खाने से वीर्य-स्तम्भन होता है।

५४. तुलसी की जड़ का चूर्ण और जमीकन्द का चूर्ण १-२ माशे की मात्रा पान में रख कर खाने से वीर्य स्तम्भन होता है।

बालरोग

५५. तुलसी के बीज, मोथा, अतीस, काकड़ा शिंगी, कण्टकारी के फूलों की केसर, वायविडङ्ग, श्वेतजीरा (भुना हुआ), छोटी पीपल, वंशलोचन, असली केसर सब के सम भाग चूर्ण को पान के रस में घोट कर मोठ के समान गोली बना कर दिवा रात्रि में ३-४ वटी मधु के साथ सेवन कराने से बालकों के ज्वर, खाँसी, पीनस दूध फेंकना, श्वास, डब्बा, दस्त आदि समस्त बाधाएँ दूर हो जाती हैं।

ज्वर

५६. तुलसी के पत्ते, गूमा के पत्ते, काली मिर्च, छोटी पीपल प्रत्येक १-१ तोला, शुद्ध कपूर ३ माशे, सबको नीम की कोपलों के रस में खरल कर २-२ रत्ती की गोलियाँ बनावें। प्लेग में रोगी के अवस्थानुसार ३-३ घण्टे पर ४ गोली तक सेवन कराने से ज्वर का वेग कम हो जाता है।

५७. तुलसी के ताजे पत्ते १० तोला, काली मिर्च १ तोला, छोटी पीपल १ तोला, जायफल १

तोला सबको बरीक खरल कर मटर के समान गोलियाँ बना कर छाया में सुखा करके सुरक्षित रखे। मात्रा १-१ गोली गरम जल के साथ दिन में ३-४ बार। बच्चों को चौथाई से आधी गोली। विशेष कर वातजन्य मलेरिया की अच्छी औषधि है। यह पसीना लाकर ज्वर को रोकती तथा वायु को शान्त करती है। गरमी मालूम होने पर मात्रा कम करनी चाहिये।

५८. काली तुलसी की पत्ती ६ तोला, काली मिर्च का चूर्ण १ तोला, धतूरे की जड़ का छिलका १ तोला, मदार की जड़ का छिलका १ तोला, सबको पानी के साथ महीन पीस खरल में अच्छी तरह घोंट कर मटर समान गोलियाँ बना ले। ज्वर आने के प्रथम १-१ गोली घन्टे भर के अन्तर से दो बार देने से कम्पज्वर, मलेरिया, दूर होता है।

तुलसी की चाय

५९. ३ माशे तुलसी के सूखे पत्ते और १८ माशा आदी दोनों को चाय की तरह पका कर और चीनी दूध मिला कर पीने से छाती का जकड़ना ज्वर आदि आराम होते हैं।

६०. काली तुलसी की पती छाया में सुखा कर मन्द मन्द अग्नि से भून चाय की पत्ती की तरह बना कर रख लो।

सेवन विधि एक मात्रा :—तुलसी की चाय ३-६ माशे, छोटी इलायची के दाने ३ रत्ती, दालचीनी ३ रत्ती, लौंग ३ रत्ती, जेठी मधु ३ रत्ती सबको १० तोले खौलते हुए पानी में डाल कर २ मिनट बाद उतार ले और ५ मिनट के भीतर छान कर आवश्यकतानुसार दूध चीनी मिला कर काम में लावें। इसके सेवन से ज्वर खाँसी, मलेरिया का विष, प्यास, वमन आदि दूर होते हैं।

इन्फ्लूएञ्जा

६१. एक पाइन्ट शुद्ध मद्य अथवा मृत-संजीवनी सुरा में ३॥ औंस तुलसी के पत्ते और बीजों का चूर्ण मिला कर एक सप्ताह तक रखा रहने दे। वस्त्र में छान कर काम में लावे। मात्रा आधा ड्राम से १ ड्राम तक।

६२. सूखे पत्तों को एक औंस लेकर एक पाइन्ट गरम जल में भिगो कर रख दें। एक घन्टे के बाद मल और छान कर काम में लावे। मात्रा आध औंस से एक औंस तक।

६३. १२ औंस तुलसी के पत्तों के स्वरस में ८ औंस शुद्ध जल मिला कर आधे घन्टे तक मन्द अग्नि पर पकावे। फिर उसमें दो पौण्ड शुद्ध खाँड़ डाल कर पकावे। जब तार आजावे और २-३ पौण्ड रह जाय तब नीचे उतार ले। मात्रा १-२ ड्राम बालकों की सर्दी खाँसी आदि में लाभ होता है।

६४. तुलसी के पत्तों का स्वरस ४ ड्राम, उत्तम शहद १ औंस, आदी का रस दो ड्राम और अजवायन का चूर्ण दो ड्राम, सबको एकत्र मिला कर सुरक्षित रखे। मात्रा ३० से ६० बून्द तक। इसके सेवन से बालकों की खाँसी आराम होती है।

[क्रमशः]

गोबर की राम-कहानी

श्री शिवपूजन सहाय

मैं सब वनौषधियों का सार हूँ। इसी-लिए मेरा रस पाकर सभी वनस्पतियाँ लह-लहा उठती हैं।

मेरे पिता का नाम जठरानलानन्द है और श्रीमती सुरभी मेरी माता हैं।

मेरे जन्मस्थान का नाम लेने से दिन-भर अन्न जल के दर्शन न होंगे, इसलिए नहीं बताऊँगा।

हाँ, जन्मस्थान का पता बतला सकता हूँ। 'हिन्दी-शब्दसागर' के दूसरे खण्ड के ७८८ पृष्ठ के प्रथम स्तम्भ का चतुर्थ शब्द देखिए। आपको मालूम हो जायगा कि मेरे जन्मस्थान के आधार पर हिन्दी में अनेक अद्भुत वाग्धा-राओं की सृष्टि हुई है।

यदि आप हिन्दी के बदले संस्कृत में मेरे जन्मस्थान का पता जानना चाहते हैं, तो भी एक श्लोक का चतुर्थ ही चरण स्मरण करना पड़ेगा, जिसमें प्रथम दुर्जन को और तदनन्तर सज्जन की वन्दना की गई है।

आप तो जानते ही हैं कि मैं अस्पृश्य की योनि में जन्म लेने पर भी गंगाजल के समान पवित्र और पूज्य हूँ। हिन्दू घराने के प्रत्येक माङ्गलिक कृत्य में मेरी उपस्थिति अनिवार्यरूपेण आवश्यक है। गौरी-गणेश के पिता वेद-शास्त्रों में चाहे जो हों, पर शुभ उत्सवों में तो मैं ही हूँ।

चूल्हे-चौके की तो चर्चा ही क्या, यज्ञ-मण्डप में भी सबसे पहले मैं ही प्रवेश करता हूँ।

अगर आप मुझे गरमागरम काम में लावें, तो मैं साबुन का भी चचा सिद्ध हो सकता हूँ।

दुर्गन्धों के दूर करने में मेरे सामने फिनाइल भी फीका पड़ जायगा। मलिनता का नाश करने में मैं वैसा ही सिद्धहस्त हूँ जैसा विलासिता का नाश करने में खद्दर!

संसार में जितने प्रकार के भयङ्कर कीटाणु हैं, सब मेरी चुटकियों के चीलर हैं। जैसे मनुष्यों के लिए महामारी है वैसे ही कीटाणुओं के लिए मैं हूँ।

धर्मशास्त्र और आयुर्वेद में तो मेरी महिमा का वर्णन है ही, वर्त्तमान संसार के सर्वश्रेष्ठ पुरुष महात्मा गान्धी ने भी मेरी महिमा का विशद वर्णन किया है। उन्हीं के शब्दों में सुनिये—

"गोबर का उपयोग अधिकतर उपलों (कण्डों) के लिये किया जाता है। इसमें जरा भी शक नहीं कि गोबर का यह दुरुप-योग नहीं, तो कम-से-कम उपयोग अवश्य है। यह तो ताँत के लिये भैंस मारने के समान है। अगर एक उपले की कीमत एक पाई होती, तो गोबर का पूरा उपयोग करने से एक उपले के बराबर गोबर की कीमत कम-से-कम दसगुनी अधिक होती है। आज अगर हम इससे होनेवाली अप्रत्यक्ष हानि का ही अन्दाज लगावें तो वह इतनी अधिक होगी कि उसकी कीमत आँकना ही मुश्किल

होगा। गोवर का पूरा-पूरा सदुपयोग तो उसकी खाद वनाने में ही है। कृषिशास्त्र के जानकारों का मत है कि गोवर के जला डालने से ही हमारे खेतों की ताकत घटी है। विना खाद के खेत और विना घी के लड्डू में कोई फर्क नहीं होता, दोनों शुष्क होते हैं। गोवर की खाद के मुकाविले रासायनिक खाद कहीं घटिया होती है। रासायनिक खाद से जहाँ लाभ होता है, वहाँ हानि भी होती है। रासायनिक खाद से खेत में अधिक गेहूँ पैदा होंगे, दाना सुन्दर और वड़ा होगा; लेकिन गोवर की कुदरती खाद वाले खेत में पैदा होनेवाले गेहूँ तादाद में भले ही कम हों, मिठास और पौष्टिकता में तो रासायनिक खादवालों से कहीं वढ़ कर होंगे। यह भी हो सकता है कि इस विषय के वैज्ञानिक शोध के वाद रासायनिक खाद का महत्त्व भी आज की अपेक्षा कहीं अधिक घट जाय; किन्तु यह हो या न हो, इतना तो निर्विवाद है कि गोवर का उपयोग खाद के लिए ही किया जाना चाहिये।"

इससे महत्त्वपूर्ण प्रमाणपत्र और क्या हो सकता है?

लोकोक्तियों में भी यही प्रसिद्ध है कि "गोवर खाद खेत को भरै, सौ मन कोठला में लै धरै।"

कृषि-प्रधान भारत में मेरी अद्भुत शक्ति को लोग भूल गये हैं। उन्हें इस वात का ज्ञान विस्मृत हो गया है कि पृथ्वी की पुत्री 'उर्वरा' के साथ मेरा विवाह हुआ है। जव तक मेरी पत्नी के साथ मुझे लोग खुलकर न मिलने देंगे तवतक मेरे शाप से दरिद्र ही रहेंगे।

[क्रमशः]

गृञ्जन क्या है ?

सैकड़ों वर्षों से जहाँ देखिये, वहाँ गाजर खानेपर शास्त्रार्थ चला आ रहा है। अभी तक इस बात का ठीक निर्णय नहीं हो सका है कि गाजर खाद्य है या अखाद्य! यह विषय ऐसा नहीं; जिसका निर्णय न हो सके।

पलाण्डुं गृञ्जनञ्चैव मत्या जग्ध्वा पतेत् द्विजः।

–मनुः

लशुनं गृञ्जनञ्चैव जग्ध्वा चान्द्रायणञ्चरेत्।

–याज्ञवल्क्य स्मृतिः

उक्त मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार गृञ्जन को गाजर समझ कर अभक्ष्य बताया जाता है। अतएव धर्मात्मा गाजर को खाना पाप समझते हैं। अब विचार केवल इतना ही करना चाहिये, कि गृञ्जन गाजर का ही नाम है या अन्य किसी वस्तु का। मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियों तथा अनेक धर्मशास्त्र के ग्रन्थों के अनेक भाषा-टीकाकारों ने गृञ्जन का अर्थ गाजर किया है। इसी प्रकार कोषों के टीकाकारों ने भी गाजर शब्द लिखा है। कैयदेव निघण्टु में गृञ्जन को हिन्दी भाषा में गाजर, भावप्रकाश में गृञ्जन और गाजर को एक साथ पढ़कर गृञ्जन को गाजर लिखा है। जैसे—

गृञ्जनं गाजरस्प्रोक्तं तथा नारङ्गवर्णकम्।

वैद्यक-शब्द-सिन्धु नामक नवीन कोष में भी गृञ्जन को हिन्दी भाषा में गाजर लिखकर शलगम लिखा है। वैदिक निघण्टु में भी भाषा टीकाकारों ने गृञ्जन को गाजर लिखा है। इस प्रकार से भ्रममूलक नवीन परम्परा के कारण गृञ्जन गाजर के नाम से प्रचलित हो गया, परन्तु शास्त्रीय सिद्धान्त से गृञ्जन कभी गाजर का नाम नहीं हो सकता। हमारे थोड़े दिन पूर्व होनेवाले टीकाकारों की भूल से यह झगड़ा चला है। यदि वे ध्यान देकर निर्णय करते तो कभी ऐसा भ्रम-मूलक विरोध नहीं चल सकता था। इस विषय में नवीन टीकाकारों का तथा नवीन निघण्टुकारों का चक्कर में पड़ना तो सामान्य बात है, परन्तु चरक, सुश्रुत, अष्टाङ्गहृदय आदि प्राचीन ग्रन्थों के टीकाकारों ने भी पूर्णरूप से भ्रम में पड़कर एक गृञ्जन ही क्यों, न जाने कितनी औषधियों के मिथ्या नाम लिखकर मध्यशिक्षित समाज को भ्रम में डाल दिया है, जिसका पूरा हाल मेरे लिखे हुए सचित्र स्वामी-निघण्टु को पढ़कर जान सकते हैं। प्रकरणान्तर होने से अन्य किसी औषधि के विषय में न लिखकर केवल गृञ्जन के विषय में ही पाठकों को कुछ प्राचीन और नवीन का मत भेद दिखलाता हूँ। जिस मनुस्मृति में गृञ्जन भक्षण का निषेध किया गया है, उसके प्रधान टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने कुछ भी नहीं लिखा। याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा टीका में लहसुन के समान लाल रङ्गवाला सूक्ष्म कन्द गृञ्जन बताया गया है।

"गृञ्जनं लशुनानुकारी लोहित-सूक्ष्म-कन्दम्"

विचार से विदित होता है कि लहसुन के समान लाल कन्दवाला छोटा छोटा गृञ्जन होना चाहिये। इससे गाजर सिद्ध नहीं होता।

आ० महामहोपाध्याय श्री भगीरथ स्वामी

मेरे मत से यह सलजम हो सकता है। भावमिश्र ने अपने निघण्टु में गृञ्जन को गाजर लिखा है—

गृञ्जनं गाजरम्प्रोक्तं तथा नारङ्गवर्णकम्।

इस स्थान में भावमिश्र की पूर्ण भूल है। प्रथम गृञ्जन और गाजर शब्द भिन्न भिन्न अर्थ के वाचक होने पर भी भावमिश्र ने एकार्थवाचक समझ कर एवं एक साथ पढ़ कर भारी भूल की है, तथा गाजर शब्द संस्कृत नहीं, किन्तु भाषा का शब्द है, उसको भी संस्कृत बना डाला। राजनिघण्टु* और धन्वन्तरि† निघण्टुकार ने गृञ्जन को सलगम वाचक, गृञ्जन को गाजर का वाचक बताया है। भावप्रकाश में गाजर के स्थान में गृञ्जन शब्द होना चाहिये। हमको तो इसका कारण प्रेस के भूतों का कर्तव्य मालूम पड़ता है। फिर भी पाठक पुरानी पुस्तकों से इस पाठ को मिलाकर निश्चय करें।

जयपुर स्टेट के प्रधान वैद्य स्वर्गीय श्रीराम-कृष्णजी भट्ट ने स्वरचित सिद्धभैषज्यमणिमाला में गृञ्जन का वर्णन करते हुए नीचे टिप्पणी में—गृञ्जन को शलजम लिखा है।

पित्तार्शोऽस्रकफानिलग्रहिणिका-रुग्गञ्जनं गृञ्जनम्। शलजम इति ख्याता।

डाक्टर गणेशदेशाई ने अपने औषध-संग्रह में गृञ्जन को बादशाही सालिव लिखा है, किन्तु गाजर नहीं लिखा। मेरी समझ में डाक्टर देशाई का गृञ्जन को बादशाही सालिव बताना भूल है, क्योंकि गृञ्जन हिन्दुस्तान में होता है। इसलिये केवल सलगम कहना उचित है। बादशाही-सालिव भी देशी सलजम की तरह का होता है। चरक सूत्र-स्थान, अध्याय, २७ सूत्र १६६ में-टीकाकार चक्रपाणि अपनी टीका में लिखते हैं कि छोटे नालीदार पत्रवाला एक प्रकार का प्याज ही गृञ्जन है। यहाँ गृञ्जन को प्याज का भेद माना, किन्तु गाजर मानना सिद्ध नहीं होता है। "गृञ्जनकः स्वल्पनालपत्रः पलाण्डुरेव।" आगे चरक संहिता, चिकित्सास्थान, अध्याय १७, सूत्र १२८ में टीकाकार चक्रपाणि लिखते हैं कि—गृञ्जन लाल रङ्ग का प्याज है। "गृञ्जनकं लोहित पलाण्डुः।" चरकसंहिता, चिकित्सास्थान अध्याय १२, सूत्र ६० में गृञ्जन की शाक में गणना की है। चरक के टीकाकार चक्रपाणि ने लिखा है, गृञ्जन, रसोन (लहसुन) वा सहिजन को कहते हैं-गृञ्जनकं रसोनाकारं शोभाञ्जनम्वा।" यहाँ चक्रपाणि टीकाकार की बुद्धि भी चक्कर खा गयी, क्योंकि एक वे इस बात का निर्णय नहीं कर सके कि गृञ्जन लहसुन है-सहिजन अथवा लाल प्याज है। जब टीकाकारों को ही पता न लगे और वह मनमानी बात लिख दें तो औरों की बात ही क्या? इनकी टीकाओं को देखकर और भी लोग भ्रम में पड़ जाते हैं, तब टीकाकारों की बात का प्रमाण मानना भूल है। यहाँ आपको यह बात तो निश्चित हो गयी कि गृञ्जन गाजर नहीं हो सकता। गृञ्जन शब्द रसोन और सहिजन का वाचक लिखना शास्त्र के सिद्धान्त से रहित, और भूल है। किसी भी

---

* गृञ्जनं शिखिमूलञ्च यवनेष्टञ्च वर्तुलम्। ग्रन्थिमूलं शिखाकन्दं तथा डिण्डीरमोदकम् -इति राजनिघण्टुः।

† पाँच प्रकार की मूली में तीसरे प्रकार की शलगम को मूली माना है। तृतीयं मूलकं चान्यन्निर्दिष्टं तच्च गृञ्जनम्—इति धन्वतरिः।

निघण्टु में रसाञ्जन वा शोभाञ्जन का वाचक गृञ्जन नहीं मिलता है।

सुश्रुत, उत्तरार्द्ध, अध्याय ५६, सूत्र १४ में 'रसोनभेदः' लिखने से एक प्रकार का लहसुन मालूम होता है, गाजर नहीं।

अष्टाङ्ग-हृदय, चिकित्सास्थान, अध्याय ४, सूत्र ४६ में लहसुन, पलाण्डु (प्याज) और गृञ्जन-मूल भिन्न भिन्न लिखा है। आगे पुनः चिकित्सा स्थान में "यूषं गृञ्जनकस्य वा" इसकी टीका में-"गृञ्जनस्य हरितविशेषस्य यूषः" गृञ्जन को सहिजन लिखा है। गाजर नहीं लिखा। गृञ्जन को सहिजन लिखना अप्रामाणिक है। सिद्ध मन्त्र में—प्याज का भेद लिखा है, गाजर नहीं लिखा। कैयदेव निघण्टुकार ने गृञ्जन को जंगली प्याज लिखा है। राजनिघण्टुकार नरहरि आचार्य्य ने अपने राजनिघण्टु में पाँच प्रकार की मूली की जातियों में एक तृतीय प्रकार की मूली माना है। मेरी समझ में इनका सिद्धान्त ठीक है। शलजम एक मूली का भेद अर्थात् एक प्रकार की मूली है। मेरे सिद्धान्त में गृञ्जन तीन काल में भी गाजर नहीं हो सकता। जिन लोगों ने गृञ्जन को गाजर बताया है, उन्होंने निसन्देह भूल की है। हाँ, दोष उनका भी विशेष नहीं कह सकते, क्योंकि उन्होंने भी निघण्टुओं को देख कर लिखा है। प्राचीन निघण्टुकारों के सिद्धान्तको नवीन निघण्टुकारों ने बिना सोचे समझे मनमानी कल्पना करके जो चाहा सो लिख दिया। उसीका फल धर्मशास्त्र के श्लोकों के शुद्ध अर्थ का अनर्थ करना हो सकता है। अन्य विद्वानों की सम्मति से गृञ्जन गाजर नहीं हो सकता। इस विषय में अन्य विद्वान् भी अपना मत प्रकट कर सकते हैं।

यह औषधि हिमालय के काश्मीरप्रान्त में लगभग दस हजार फीट की उँचाई पर पाई जाती है। इसका व्यवहार आजकल पाश्चात्य चिकित्सा (एलोपैथी और होमियोपैथी) में बहुतायत से होता है। यह आश्चर्य है कि हमारे देश में उत्पन्न हुई वनस्पति का उपयोग हमारे यहाँ नहीं होता। इतनाही नहीं, उसके नाम का भी ज्ञान नहीं है। जहां यह पैदा होती है वहाँ के निवासी भी इसका नाम नहीं जानते। अतः विवश होकर हमें इसका प्रसिद्ध विदेशी नाम भी देना पड़ा है। स्वनामधन्य-कविराज गणनाथ सेन जी इसे हृत्-पत्रिका, घण्टा-पुष्पी आदि नाम से व्यवहार करते हैं।

हृत् पत्रिका

(Digitalis Falia)

श्रीकविराज प्रतापसिंह रसायनाचार्य

विशेषकर इस औषधि के पत्र ही व्यवहार में आते हैं। दो वर्ष का पौधा जब पुष्प देने लगे तब इसके पत्तों का संग्रह करना चाहिये। सूखे हुए पत्र-चूर्ण की मात्रा चौथाई रत्ती से एक रत्तो तक है। इसका क्वाथ देना अधिक फलप्रद होता है। किन्तु यह विषात्मक है इसलिये इसकी मात्रा सावधानी के साथ प्रयोग करनी चाहिये।

उपयोग

यह वनस्पति हृदय को अत्यन्त बल देने वाली है, नाड़ी की गति की तीव्रता को मन्द करती है, हृदय के विकार से उत्पन्न होने वाले शोथ के लिये हितकर है, मूत्रल है और वृक्क के विकार से उत्पन्न शोथ में भी इसका उपयोग होता है।

इसका प्रयोग निरन्तर नहीं करना चाहिये। बीच बीच में दो, दो, तीन, तीन दिन का अन्तर दे देना आवश्यक है। ऐसा न करने से इसका विष-प्रभाव हो जाता है।

हमने इसका प्रयोग चौथाई रत्ती की मात्रा में "आरोग्य-वर्द्धिनी" तीन रत्ती के साथ मिला कर भोजन के बाद शोथरोग में किया है। श्वासरोग में जब हृदय की दुर्बलता होती है तब बेलाडोना नामक वनस्पति के साथ ४ रत्ती की मात्रा में ३ रत्ती बेलाडोना को मिलाकर देने से विशेष लाभ होते देखा गया है।

क्वाथ बनाने की विधि इसकी यह है—३० रत्ती पत्र चूर्ण को लेकर १० छटाँक पानी में १५ मिनट तक खौलावे और फिर छान कर एक छटाँक से २ छटाँक तक की मात्रा दिन में दो बार देनी चाहिये।

व्यापार के लिये इसके (Digitalis) जो पत्र एकत्रित किये जाते हैं वे एक वर्ष के पौधे के होते हैं, और दुबारा पुष्प आने पर पुनः उस पौधे से पत्ते तोड़ कर सङ्ग्रह कर लेते हैं, इसलिये औषधि के गुण में बहुत अन्तर पड़ जाता है। साधारणतया इसके पत्ते ४ से १२ इञ्च लम्बे और ५-६ इञ्च चौड़े होते हैं। इसका स्वाद तिक्त होता है। किन्तु इसमें किसी प्रकार का विशेष गन्ध नहीं होता। इसके पत्तों के ऊपर बहुत छोटे छोटे रोयें होते हैं।

कुछ काल तक पड़े रहने और सील खाने से यह औषधि गुणहीन हो जाती है।

सुश्रुत के क्षार

प्रोफेसर—श्रीदत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णी
एम० एस० सी०, आयुर्वेदाचार्य

भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं—

शस्त्रानुशस्त्रेभ्यः क्षारः प्रधानतमः छेद्य-भेद्य-लेख्य-करणात्, त्रिदोषघ्नत्वात्, विशेषक्रियावचारणाच्च। तत्र क्षरणात् क्षणनाद्वा क्षारः।

सुश्रुत, सूत्रस्थान, ११ अध्याय

शस्त्र और अनुशस्त्रों से क्षार श्रेष्ठ है, क्योंकि वह छेदन, भेदन, लेखन आदि कार्य सरलता से करता है। त्रिदोष का भी नाश करता है, तथा कहीं २ रोग विशेष में अति शीघ्र फलप्राप्ति केवल क्षारों के ही सेवन से होती है। डल्हणाचार्य अपनी टीका में क्षरणात् का अर्थ "दुष्टत्वङ्मांसादिचालनात्" करते हैं। कुछ अन्य टीकाकार क्षरणात् का अर्थ "दोषानाञ्चालनात्" करते हैं। तथा क्षणन का अर्थ शोधन बतलाते हैं। इन क्रिया-विशेषों के कारण इस पदार्थ विशेष का नाम क्षार प्राचीन महर्षियों ने रखा है।

यह क्षार, प्रतिसारणीय और पानीय भेद से दो प्रकार का है। प्रतिसारणीय का भावार्थ बाहर से लेपादि करने योग्य एवं पानीय शब्द का अर्थ पीने योग्य होता है। प्रतिसारणीय क्षार मृदु, मध्य और तीक्ष्णभेद से तीन प्रकार के होते हैं। उनका निर्माण करने के लिये जो विधि सुश्रुतकार ने लिखी है उसे देखकर अर्वाचीन पाश्चात्य वैज्ञानिक भी आश्चर्यान्वित होते हैं। सङ्क्षेप में यह विधि इस प्रकार है—

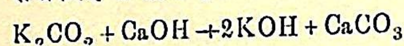
किसी वृक्षविशेष या वनस्पतिविशेष का ढेर लगा कर—उसके सूख जाने पर—उसके बीच में चूने के खनिज (कङ्कड़ आदि) रख कर आग लगा देते हैं। अग्नि शान्त होनेपर लकड़ी की भस्म को पृथक् निकाल कर चूने के खनिजों का भस्म अवशेष कर लेते हैं। लकड़ी के भस्म में षड्गुण जल मिला कर घोल बनाते हैं और उसको २१ बार छान लेते हैं। फिर चूल्हे पर रखकर गाढ़ा करते हैं। गाढ़ा करने पर फिर भी उसको छानते हैं और तपाते हैं। इससे जो प्राप्त होता है उसे मृदुक्षार कहते हैं। मध्यक्षार बनाने के लिये इस गाढ़े किए घोल में उपर्युक्त चूना भस्म को पीस कर मिला कर और गाढ़ा कर छान लेते हैं। छानने के बाद प्राप्त विलयन को फिर भी तपाते हैं। इस विधि से निर्मित पदार्थ को मध्य क्षार कहते हैं।

तीक्ष्ण क्षार बनाने के लिये चूना भस्म के साथ ही दन्ती, द्रवन्ती, चित्रकादि कई पदार्थों के चूर्ण को मिला कर पकाते हैं।

वैज्ञानिक दृष्टि से देखने से इन विधियों में बड़ा ही रहस्य अन्तर्हित है। लकड़ी के जलाने से सोडियम, पोटाशियम, इत्यादि पदार्थों के कार्बोनेट लवण उस भस्म में प्राप्त होते हैं। इस कार्बोनेट को आजकल के वैज्ञानिक भी "माइल्ड अलकली" के नाम से पुकारते हैं। माइल्ड अलकली शब्द का अर्थ मृदुक्षार ही है।

मध्यक्षार बनाने के लिये जो चूनाभस्म पीस कर मिलाया जाता है, उससे इन कार्बोनेट के हाइड्रोक्साइड बन जाता है। वैज्ञानिक इन हाइड्रोक्साइडस् को "कास्टिक अलकली" कहते हैं। इसीको हमारे ऋषियों ने मध्यक्षार माना है।

इसमें जो रासायनिक क्रिया होती है वह निम्न समीकरण से साफ २ समझ में आजायगी।

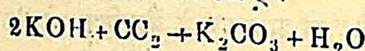


$K_2CO_2 + CaOH \rightarrow 2KOH + CaCO_3$

मृदुक्षार + चूनाभस्म → मध्यक्षार + अनघुल(कास्टिक क्षार) चूना जो छानने से पृथक् होता है।

तीक्ष्णक्षार बनाने के लिये जो प्रक्षेप लिखा है, उससे कुछ ही परिवर्तन मध्यक्षार में होता है। क्योंकि चित्रकादि की क्रिया मध्यक्षार से विशेष तीक्ष्ण नहीं हो सकती है, किन्तु इनसे मध्यक्षार का प्रभाव अवश्य बढ़ सकता है।

मध्य और तीक्ष्ण क्षार को रखने के लिये जो विधि बतलाई है वह पूर्णतया वैज्ञानिक है। कहते हैं "अथैनमागतं पाकमवतार्यानुगुप्तमायसे कुम्भे सम्वृतमुखे निदध्यात्" अर्थात् पाक सिद्ध हो जाने पर इस क्षार को गुप्तस्थान पर लोहे के कुम्भ में पका और ढक्कन लगा कर रखना चाहिये। यदि ढक्कन ठीक नहीं रहेगा तो क्षार के प्रभाव में हानि हो जायगी। वास्तव में होता यह है, कि पात्र पर ढक्कन न रहने से वायुमण्डल का कार्बन डायाक्साइड, हाइड्रोक्साइड को फिर से कार्बोनेट में परिवर्तित कर देता है।



$2KOH + CO_2 \rightarrow K_2CO_3 + H_2O$

(मध्यक्षार) → मृदुक्षार + जल

इस परिवर्तित क्षार से मध्यक्षार का कार्य कभी भी नहीं हो सकता है। क्षार में इस परिवर्तन के हो जाने पर हमारे महर्षियों ने उसे पुनः प्रभावशाली बनाने के लिये जो क्रिया बतलाई है उसे देख कर उनके प्रति श्रद्धा एवं भक्ति का आविर्भाव होता है। सुश्रुतकार ने लिखा है

'क्षीणबले तु क्षारोदकं पाययेत् बलकारणार्थम्' क्षार के क्षीण हो जाने पर पुनः उसमें क्षार का जल मिलाकर पकावे और छान ले इससे मध्य और तीक्ष्णक्षार थोड़ी मात्रा में पुनः प्राप्त हो सकता है।

इस क्षार को रखने के लिये जो लौहपात्र का उपयोग बतलाया है वह बहुत ही वैज्ञानिक है, क्योंकि कास्टिक अलकली रखने के लिये पात्र का निर्णय करने में पाश्चात्य वैज्ञानिकों को पचास वर्ष के पूर्वतक बहुत कठिनाई पड़ी थी। और अब वह भी क्षारों के रखने के लिये लौहपात्र का प्रयोग करने लगे हैं। सम्भव है हमारे ग्रन्थों से ही उन्हें यह बात मालूम हो गई हो। इस बात को देख कर फ्रान्स के बड़े भारी वैज्ञानिक का यह मत हो गया था कि सुश्रुत में क्षारपाक-विधीयाध्याय अङ्गरेजी शिक्षा प्राप्त किसी नये व्यक्ति ने प्रक्षिप्त कर दिया है। किन्तु यह क्षारपाक की विधि अन्य कई प्राचीन ग्रन्थों में भी पाई जाती है। अतएव किसी व्यक्ति ने इस सम्बन्ध में चौर्य अथवा अपहरण किया हो तो उन्हीं लोगों द्वारा हुआ होगा यह निसन्देह सिद्ध है। इस क्षार का प्रयोग कई व्याधियों में बतलाया गया है। किसी प्रयोग में कुछ भूलवश अधिक जलन हो तो उसे शान्त करने के लिये भी बड़ा ही आश्चर्यकारी प्रयोग भी सुश्रुतकार ने किया है। वे कहते हैं

तत्राम्लवर्गशमनः सर्पिर्मधुकसंयोगः। तथा:-
अम्लकाञ्जिकबीजानि तिलान्मधुकमेव च
प्रपेष्य समभागानि तेनैवमनुलेपयेत्॥

क्योंकि—

माधुर्यं भजतेऽत्यर्थं तीक्ष्णभावं विमुञ्चति।
माधुर्याच्छुभमाप्नोति वह्निरद्भिरिवाप्लुतः॥

इसमें क्षारदग्धव्रण के लिये अम्लद्रव्यों से धोना और मलहम पट्टी करने को कहा है इससे क्षार के कारण जो जलन होती हो वह शीघ्र ही कम होगी और नष्ट हो जायगी। किसी क्षारदग्ध के लिये अम्लौषधियाँ छोड़ कर कोई भी औषधि फलदायी नहीं होती यह प्रत्यक्ष देखा जाता है।

KOH + Acid (अम्ल) = जल + अम्ल का
क्षार पोटासियम लवण

जैसे जल से अग्नि शान्त हो जाती है, उसी भाँति अम्ल द्रव्यों से क्षार की दाहकता नष्ट हो जाती है। पाठक देख लें कि इस लेख में बतलाई हुई प्राचीन क्षारपद्धति कितनी वैज्ञानिक रहस्यों से परिपूर्ण है। यह समस्त अध्याय –क्षारपाकविधीयाध्याय–रसायन विज्ञान के किसी पाठ्य ग्रन्थ में रख दिया जाय तो इसकी प्राचीनता सम्भव है लोगों की समझ में न आवे। वैसा करने में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं करना पड़ेगा। अनेकों प्रयोगों द्वारा अनुभव करने के बाद ही प्राचीन लोग इन तथ्यों पर पहुँचे होंगे यह निर्विवाद कहा जा सकता है। यदि हम लोग भी संसार में कुछ कार्य कर दिखाना चाहते हैं तो हमारे लिये यह परम आवश्यक है कि विज्ञान की सहायता द्वारा गम्भीर एवं पूर्ण अध्ययन करके अनेकों प्रयोगों द्वारा किसी सिद्धान्त पर पहुँचने का प्रयत्न करें। तभी प्राचीनों की भाँति उच्च सिद्धान्तों का आविष्कार हम लोग भी कर सकेंगे। क्योंकि अनवरत श्रम ही प्राचीनों की सफलता का मुख्य कारण है। अलम्।

द्रोणपुष्पी

प्रोफेसर–श्री राजेश्वरदत्त शास्त्री आयुर्वेदाचार्य

मुझे इस बूटी के परिचय देने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि यह प्रायः सर्वत्र पाई जाती है। और ग्राम के लोग शिक्षित अशिक्षित सभी इसे जानते हैं। जिनका खेतों से किसी भी प्रकार सम्बन्ध है वे नागरिक भी इसे पहिचानते हैं। हिन्दी में इसे "गूमा" या 'गूम' कहते हैं। मुझे पाठक महानुभावों को स्वयम् अनेक वार अनुभव किये हुये इसके सामान्य गुणों के अतिरिक्त एक विशेष गुण बताना है।

सामान्य गुण

१. इसकी पत्ती के रस को निचोड़ कर सुखा कर गाढ़ा कर लेवे। फिर मटर के बराबर गोलियाँ बना कर रख दे। दो दो घण्टे पर गर्मजल के साथ दो दो गोली खिलाने से आरम्भिक विषमज्वर (Malaria) दूर हो जाता है।

२. इसकी पत्ती के दो तोले रस में ४ रत्ती कालीमिर्च का चूर्ण मिला कर दिन में चार वार पिलाने से नवीन विषमज्वर नहीं रहता।

३. जिस गाँव या देश में विषमज्वर बहुतायत से पाया जाता है वहाँ इसकी पत्ती का फाण्ट (चाय की तरह बना कर) पीने से ज्वर नहीं आता।

४. किसी भी प्रकार के ज्वर के उतर जाने पर या मन्द ज्वर रहते हुये, यदि भूख

न लगती हो तो भोजन के पहिले इसका उवाला हुआ शाक सेंधा नमक के साथ खाने से खूब भूख लगती है।

५. गूमे की पत्ती को घोट कर उसमें थोड़ा पुराना गुड़ मिला कर झरबेर की गुठली के बराबर गोलियाँ बना लेवे। सुबह शाम और भोजन के पहिले दो दो गोली खाने से आन्तरिक ज्वर सर्वथा निवृत्त हो जाता है और भूख खूब लगती है। गोलियों को गम जल के साथ खाना चाहिये।

६. इसके पञ्चाङ्ग के काढ़े में आठ रत्ती वायविडङ्ग का चूर्ण छोड़ कर सुबह शाम पीने से पेट के कीड़े जो कि मल के साथ सफेद सफेद पतले सूत के टुकड़े से निकलते हैं, मर जाते हैं।

७. इसकी पत्ती के रस का अञ्जन करने से कामला (कँवल या काँवरि अथवा आँखों का पीलापन) रोग निश्चय निवृत्त होता है।

८. इसकी पत्ती में षोडशांश सोंठ मिला कर और पीस कर गुनगुना लेप करने से श्वयथु (सूजन) उतर जाता है।

९. इसकी एक तोला पत्ती में ५ काली मिर्च मिला कर नित्य सुवह शाम कूच कूच कर चबाने से कफ रोग नहीं रहता। मुँह का मीठापन जाता रहता है और भोजन में रुचि बढ़ती है।

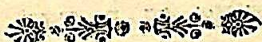
विशेष गुण

१०. साँप काटने पर आधा आधा घण्टा वाद एक एक तोला इसकी पत्ती का रस पिलावे। एक एक घण्टे वाद दस दस बूँद कानों में भी छोड़े तथा आँखों में भी अञ्जन करे, तो विष उतर जाता है। काटने पर तुरन्त इस औषध के सेवन करने से विष का वेग नहीं होता। यदि कुछ देरी हो गई हो, दाँत बैठ रहे हों, तो भी लाभ कर जाता है। किन्तु रोगी को जगाते रहना चाहिये। कदापि सोने न देना चाहिये। और न जमीन पर लेटाना चाहिये। दो रोगियों पर इसका गुण प्रत्यक्ष देखा गया है।

११. मेरा अनुमान है कि यह औषध सर्पगोधा (विस खोपड़ा) के विष में भी लाभ करती है। क्योंकि गत दशहरे की छुट्टी में मैं एक गाँव गया था। वहाँ से डिस्ट्रिक्ट बोर्ड अस्पताल १४ मील की दूरी पर था। शाम को ६ वजे एक दस बरस की लड़की अपने मकान के आँगन के एक कोने में, जहाँ पर कि कण्डे व लकड़ियाँ जमा थी, ईंधन निकालने गई। ज्योंही लकड़ी में हाथ पड़ा किसी ने जोर से काट लिया। खून निकलने लगा। वाद को देखने से मालूम हुआ कि अंगुली में दीर्घक्षताकार मानों खरोंच सा गया हो, दो निशान बने हैं। जिसे देख कर लोग विविध शङ्का कर रहे थे। पर विसखोपड़े के विषय में किसी का ध्यान तक न हुआ। लड़की का पिता सर्प के काटने की ही शङ्का कर रहा था। अस्तु, वह मेरे पास लाई गई। मुझे भी ठीक निश्चय न हुआ कि किस जीव ने काटा है और न विसखोपड़े हो पर ध्यान गया। पर सर्प-विष के खतरे से बचाने के लिये उपाय करना ही निश्चित किया। अतः मैंने दष्टस्थल पर द्रोणपुष्पी के पत्तों का कल्क (लुगदी) बंधवा दिया। और

उसका स्वरस पिलाना शुरू किया। लड़की दो घन्टे तक मेरे पास बैठी रही परन्तु उस पर विष का कुछ भी प्रभाव न हुआ। अन्त में उसका पिता उसे घर लेगया। और सिर्फ एक ही बार ६ बजे उसे औषध पिलायी। क्योंकि विष न चढ़ने से उसके परिवार को ख्याल हो गया कि इसे चूहे ने काटा हो या गिलहरी ने, अथवा काँटा लग गया हो। इसी हेतु औषध पिलाना स्थगित कर दिया। लड़की बारह बजे सो गई किन्तु खाना खिलाने के लिये साढ़े बारह बजे वह बलात् जगाई गई। ज्योंही उसने एक आध कौर खाया उसे मालूम हुआ कि उसका गला रुँध रहा है। फिर क्या था, १० मिनट के अन्दर ही परलोक चल बसी। मरने के समय तक उसकी त्वचा में कुछ भी कालिमा नहीं आई थी। प्रातः काल जब उस लकड़ी को हटा कर लोगों ने खोज की तो उसमें एक बलिष्ठ विसखापड़ा दिखाई दिया। इससे निश्चय हो गया कि उसीने काटा था। औषध बार बार न पिलाने की असव-धानता से ही उसकी यह गति हुई;अन्यथा नियमा-नुसार पिलाते रहने से अवश्य वह अच्छी हो जाती। विष ही न चढ़ता, जब कि वह ६ घण्टे तक बिल्कुल स्वस्थ रही। सुला देना व खिलाना और भी अनर्थकर हुआ। यह धारणा सभी लोगों की हो गई।

इससे विसखोपड़े (सर्प गोधा) के विष में यह औषध लाभ करेगी ऐसा प्रतीत हुआ। बुद्धि-मान वैद्य यथावसर इसकी परीक्षा करें, और सम्पादक को इसकी सूचना दें।



भारत के चिकित्सोपयोगी पौधे

प्रोफेसर बलवन्तसिंह, एम्० एस्-सी०

आयुर्वेद हमारी प्राचीन विद्या है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार २५०० बी० सी० से ६०० बी० सी० के बीच का समय आयुर्वेद-काल माना गया है। परन्तु चिकि-त्सोपयोगी पौधों की चर्चा ऋग्वेद में मिलती है जिसे पश्चिमवाले ४५०० बी० सी० से १६०० बी० सी० के बीच लिखा हुआ बतलाते हैं। इसमें सोमलता का अथवा मनुष्य पर उसके प्रभाव का वर्णन मिलता है। आयुर्वेद के विकास तथा ह्रास का इतिहास-काल चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) वैदिककाल, (२) मौलिक आविष्कारों तथा प्राचीन लेखकों का युग, (३) संग्रह-कर्ताओं तथा रसायनशास्त्रज्ञों का समय, (४) अवनति और पुनः संग्रह का समय। उक्त दूसरे और तीसरे युगों में आयुर्वेद ने प्रत्येक क्षेत्र में इतनी उन्नति कर ली थी कि वह समय इसके उच्चतम विकाश का समय कहा जा सकता है।

इसी काल के समाप्त होते-होते संसार भर की सभ्य जातियों पर इसका आतंक जम गया था। मिश्र, रोम, ग्रीस आदि देशों पर इसके प्रभुत्व ने अधिकार कर लिया था। ग्रीस और रोम की चिकित्सापद्धति न्यूनाधिक मात्रा में आयुर्वेदीय पद्धति से सादृश्य रखती थी। ग्रीस के द्वारा अरब वालों की चिकित्सा में भी आयुर्वेद ने पथदर्शक का काम किया था। प्राचीन काल में एशिया भर के विद्वान् भारतवर्ष में जीवन-विज्ञान (Science of life) तथा अन्य विज्ञानों की शिक्षा पाने के लिये आते थे। महान् विजेता अलक्ष्येन्द्र (Alexander the Great) की भारत विजय की कामना पूर्ण न हो सकी, परन्तु उस समय की भारतीय सभ्यता ने उसके हृदय पर तथा उसकी सभ्यता पर विजय प्राप्त करके जो विजय-घोष किया था वह आज भी (Hellenic) सभ्यता में निनादित हो रहा है। जिस समय अलक्ष्येन्द्र ने भारत पर आक्रमण किया था उस समय भारतीय चिकित्सा बहुत ही बढ़ी-चढ़ी हुई थी। वहां के विद्वानों ने यहां उत्पन्न होने वाली प्रत्येक वस्तु का नियमित अध्ययन करके उनके औषधीय गुणों का

ज्ञान प्राप्त किया था। उस समय ग्रीक शिविरों में सैनिकों की चिकित्सा करके भारतीय वैद्यों ने जो गौरव प्राप्त किया था उसके स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। ऐसी अवस्था में यह कहना आश्चर्यजनक न होगा कि ग्रीस वालों ने अपने चिकित्सा-ज्ञान को बढ़ाने में आयुर्वेद से बहुत सहायता ली होगी। रोम के विद्वान् भी भारतवर्ष की औषधियों में काफी दिलचस्पी लेते थे। पता लगता है कि प्राचीन काल में रोम और भारत के बीच औषधीय द्रव्यों का व्यापार भी होता था।

आयुर्वेद में चिकित्सा और वनौषधियों में जो निकट सम्बन्ध प्राचीन समय से चला आ रहा है, उसे देख कर हमें यही कहना पड़ेगा कि जिस समय हमारा आयुर्वेद उन्नति के शिखर पर आरूढ़ था, उस समय हमारा द्रव्य-गुण-शास्त्र तथा उसमें वर्णित वनौषधियों की सूची भी बहुत उत्कृष्ट श्रेणी की रही होगी। Captain Johnston Samit ने किसी समय अपने व्याख्यान में कहा था कि भारतीयों का द्रव्य-गुण-शास्त्र इतना सम्पन्न था कि ग्रीस और रोम वालों ने अपने द्रव्य-गुण-शास्त्र के निर्माण करने में उससे बहुत सहायता ली थी।

इसके बाद की आयुर्वेद की कहानी बहुत दुःखपूर्ण है। हूण, सिथियन तथा यवनों के आक्रमण के साथ आयुर्वेदीय चिकित्सा का पतन होने लगा था। भारत की उस समय की अव्यवस्थित दशा में हमारे आयुर्वेद का अधिकांश नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया। चिकित्सा धार्मिक पुरोहितों के हाथ में चली गई और उसने तन्त्र-मन्त्र का रूप धारण कर लिया। औषधियाँ अपने गौरवपूर्ण स्थानों से भ्रष्ट हो गईं। उस समय के चिकित्सकों की यह धारणा हो गई कि शल्य-क्रिया में शवविच्छेदन आदि कर्म बहुत ही अपवित्र हैं जिससे शल्य-शास्त्र का पतन अनिवार्य हो गया। महात्मा बुद्ध के अहिंसा-सिद्धान्त ने भी इसके पतन में पूरा सहयोग दिया। परन्तु बौद्धकाल में चिकित्सा ने तब भी उन्नति की थी और एक बार फिर हमारा द्रव्यगुणशास्त्र बढ़ता हुआ पाया गया। यह समय बहुत दिनों तक टिक न सका। बौद्ध-काल के समाप्त होते होते चिकित्सा और शल्यशास्त्रों का फिर से पतन शुरू हो गया।

जिस समय यवन-आक्रमण-कारियों का भारत में आना हुआ उस समय यवन-चिकित्सा ने भी पर्याप्त उन्नति कर ली थी, इसलिये भारत में आकर उन्होंने अपनी चिकित्सा-पद्धति को प्रधानता दी। यवनचिकित्सा (यूनानी), राजकीय चिकित्सा हो गई और आयुर्वेद तिरस्कृत हो गया। पठान और मुगल-राज्य-काल में राजकीय चिकित्सा होने पर भी यवनचिकित्सा उन्नति न कर सकी और मुगलों के पतन के साथ इसका तिरस्कार भी होने लगा। इस तरह यद्यपि भारतीय और यवनचिकित्सा दोनों का अधःपतन ही हुआ, तथापि इन दोनों के सहयोग से दोनों के द्रव्य-गुण-शास्त्रों में पर्याप्त मात्रा में ज्ञान-विनिमय हुआ और दोनों ने यथासम्भव अपनी-अपनी वृद्धि की।

यह संमिश्रण यहीं नहीं समाप्त हुआ। अङ्गरेजी राज्य के स्थापित होने पर पाश्चात्य-चिकित्सा ने अपना आतङ्क जमाना प्रारम्भ किया। किसी व्यवस्थित चिकित्सा-प्रणाली के अभाव के कारण, सर्वसाधारण ने भी इसका स्वागत किया। उन्नत पाश्चात्य-शल्यशास्त्र की करामातों ने हमें इतना मुग्ध कर दिया कि हमें पाश्चात्य चिकित्सा को प्रधानता देनी ही पड़ी। पाश्चात्य-द्रव्यगुणशास्त्र ने हमारे द्रव्य-गुणशास्त्र में फिर परिवर्तन लाना शुरू कर दिया; भारत के उपयोगी पौधों की सूची और भी बड़ी हो गई। यहाँ हमें इस बात का स्मरण रखना होगा कि जिन नवीन चिकित्सोपयोगी पौधों को अपनी सूची में क्रमशः स्थान दिया गया था उनमें कुछ तो अपने देश में भी होते थे और जो यहाँ नहीं होते थे वे बाहर से मँगाकर यहाँ उगाये गये और फिर यहाँ स्वयं पैदा होने लगे। यहाँ भारतीय चिकित्सा तथा भारतीय चिकित्सोपयोगी पौधों का जो ऐतिहासिक विवेचन किया गया है उससे मुझे यही दिखाना अभीष्ट था कि हमारे देश के औषधीय पौधों का ज्ञान कब और कहाँ से प्राप्त हुआ। अब यह देखना है कि हम उनका किस तरह प्रयोग करते हैं और किस तरह के प्रयोग से उनकी तथा देश की उन्नति हो सकती है। पहले पाठकों का ध्यान हम धुरन्धर वैद्यों की ओर आकृष्ट करेंगे। इनमें अन्ध-विश्वास इतना प्रबल होता है कि ये अपने आगे दूसरों की नहीं सुनना चाहते। मैं यह नहीं कहता कि अपनी प्राचीन चिकित्सा में उनका जो विश्वास है, वह झूठा है परन्तु उनका अटल सत्य समय की अवहेलना नहीं कर सकता। यह वैज्ञानिक युग है, उन्नति विज्ञान के ही आश्रित देख पड़ती है, फिर विज्ञान से भाग कर कोई कहाँ

तक अपना अस्तित्व कायम रख सकता है। हमारी प्राचीन विद्याओं में हमारी ही नहीं, वैज्ञानिकों की भी श्रद्धा है। इनमें कितने उनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ रखते हैं; परन्तु हमारी तरह नहीं। हम वर्तमान काल के वैज्ञानिक आविष्कारों को झूठा समझें और अपने को ही ठीक समझें, यह हमारी भूल है। हमें चाहिये कि हम अपने ऋषियों द्वारा स्थापित किये हुए सत्यों को विज्ञान की कसौटी पर भी सत्य प्रमाणित कर दें, तब तो हमारा अहङ्कार उचित है। खेद की बात है कि वैज्ञानिक हमारी विद्याओं को आदरपूर्वक अपना कर उन्हें वैज्ञानिक साँचे में ढालने का प्रयत्न कर रहे हैं। परन्तु हम उनकी सहायता नहीं बल्कि उनका तिरस्कार करने को भी प्रस्तुत हो जाते हैं। हमारे इस शोचनीय व्यवहार का यह परिणाम हुआ है कि अपने शास्त्रों में हमारा ही विश्वास कम होता जा रहा है। समझने की बात है कि जिन वनौषधियों द्वारा हमारा आयुर्वेद इतना बढ़ा-चढ़ा हुआ था उनका हमको वास्तविक ज्ञान ही नहीं है कि वे कैसी होती हैं। जब उनके लिये हमने पंसारियों को ही अपना गुरु मान लिया, तो फिर आयुर्वेद का इससे अधिक पतन क्या हो सकता है। वनौषधियों के विषय में आज दिन कितने ही मतभेद हैं। जो जिसका प्रयोग करता है उसे ही ठीक समझता है। भारतवर्ष में जगह जगह आयुर्वेद की परीक्षाएँ होती हैं, आचार्य की उपाधि का खुले हाथों वितरण हो रहा है; परन्तु मैं नहीं कह सकता कि भारतवर्ष में आज कोई ऐसी संस्था या सम्मेलन है जिसका अभिप्राय वनौषधियों का अन्वेषण करना है। यदि हमारे सुयोग्य वैद्य चाहें तो आधुनिक विज्ञानों की सहायता लेते हुए यह कार्य कर सकते हैं यद्यपि इस कार्य में बहुत परिश्रम, सहयोग और समय की आवश्यकता है; फिर भी प्राचीन ग्रन्थों से बतलायी हुई औषधियों का निर्णय वैद्य ही कर सकते हैं। निघण्टुओं में दिये हुए स्थूल लक्षणों के आधार पर उनका निर्णय होना असम्भव है। वनौषधियों के गुणों की परीक्षा कर लेने पर उनका अन्तिम निश्चय उन्हीं स्थूल आकृति के लक्षणों के आधार पर किया जा सकता है। निश्चित हो जाने पर हमें उनका वैज्ञानिक ढंग से वर्णन कर देना चाहिये जिससे भविष्य में फिर धींगाधींगी न होने पावे।

कुछ लोगों का विचार है कि जो आयुर्वेद आज लगभग १५०० वर्षों से प्रगति-वञ्चित रहा है और संसार की उन्नति के साथ अपनी उन्नति नहीं कर सका है, उसके लिये अब यह असम्भव है कि वह अपने दो हजार वर्षों के प्राचीन सिद्धान्तों और वर्तमान वैज्ञानिक आविष्कारों के बीच स्वैक्य स्थापित कर सके। उनका यह भी कहना है कि आयुर्वेद के विद्यार्थियों को पाश्चात्य चिकित्सा की शिक्षा देकर उनसे यह आशा करना कि वे अपने त्रिदोष-सिद्धान्त को वैज्ञानिक रूप दे सकेंगे; हमारा भारी भ्रम है। फिर भी हमें विश्वास है कि यदि हमारे वैद्य सच्चे वैज्ञानिक के भाव से ऋषियों के अनुभवों की स्वयं, नियमित रूप से, परीक्षा करते रहेंगे तो वे अवश्य सफलता के भागी होंगे।

हमारे देशी डाक्टरों से, जो पाश्चात्यचिकित्सापद्धति में कुशल हैं, आयुर्वेद का पुनरुद्धार किसी अंश में भी सम्भव है या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर केवल समय देगा। हम यहाँ केवल यह बतलाना चाहते हैं कि वे तथा अन्य वैज्ञानिक, चिकित्सोपयोगी पौधों को लेकर, किस प्रकार के अन्वेषण कर सकते हैं और देश की आर्थिक दशा सुधारने में कहाँ तक सफल हो सकते हैं। पाठकों को विदित होगा कि इस देश में ऐसी अनेक औषधियाँ होती हैं जिनका आयुर्वेदीय तथा पाश्चात्य दोनों चिकित्साओं में प्रयोग होता है। इनमें कुछ ऐसी हैं जो प्रकृति में स्वतः उत्पन्न होती हैं और कुछ पैदा भी की जाती हैं। खेद का विषय है कि पहले तो जितनी अधिक मात्रा में वे यहाँ होती हैं उसका बहुत थोड़ा अंश व्यवहार में लाया जाता है और दूसरे वह भी विदेशों को भेज दिया जाता है। उनसे भिन्न-भिन्न प्रकार की दवाएँ बनकर आती हैं और सौगुना दाम देकर भी हमें उन्हें खरीदना पड़ता है। Atropa Belladonna नाम का पौधा हिमालय में बहुत प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होता है; परन्तु उसका सहस्रांश भी हम अपने काम में नहीं लाते। अब थोड़े दिनों से हजारा प्रान्त में इसका संग्रह होने लगा है और विदेशों में भी भेजा जाने लगा है। इसी तरह पारसीक यवानी (Hyascymus niger), जो एक बहुत ही प्रसिद्ध चिकित्सोपयोगी पौधा है, ६००० फीट से १०००० फीट की ऊँचाई पर हिमालय पर होता है। Poclophyllum, Santonin आदि के पौधे भी काश्मीर आदि में पाये गये हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कितने ही ऐसे पौधे हैं जो यहाँ नहीं होते,

तो भी यह देखा गया है कि वे भिन्न-भिन्न प्रान्तों में, जहाँ उनके अनुकूल परिस्थिति है, पैदा किये जा सकते हैं। ऐसे पौधों में यूकेलिप्टस, सिनकोना, जलापा, डिजिटैलिस, इपेकाक आदि मुख्य हैं। प्रो० ग्रीनिश का कहना है कि भारतवर्ष में भिन्न-भिन्न स्थानों के जलवायु आदि में इतना बाहुल्य है कि यूरप के काम के सभी पौधे वहां सफलतापूर्वक उत्पन्न किये जा सकते हैं। ऐसी अवस्था में यह आवश्यक है कि परीक्षारूप में वे सब पौधे देश के भिन्न भिन्न भागों में पैदा किये जायँ, उनकी रासायनिक परीक्षा की जाय, और यह देखा जाय कि उनके अन्दर अभीष्ट पदार्थ किस स्थान में होने वाले पौधों में सबसे अधिक मात्रा में होता है। इससे उचित स्थानों पर उन पौधों की पैदावार बढ़ाकर देश की आर्थिक उन्नति की जा सकती है।

हमें अब अपने पाठकों का ध्यान ऐसे पौधों की ओर ले जाना है जो अन्य देशों में होने वाले प्रसिद्ध पौधों के सजातीय और सधर्मी होने के कारण प्रतिनिधि-रूप में प्रयुक्त हो सकते हैं। ऐसे पौधे भी हमारे देश में अनेक मिल चुके हैं, परन्तु अभीतक उनकी सर्वमान्य रासायनिक परीक्षा नहीं हो सकी है जिससे उनको प्रतिनिधि-स्वरूप स्वीकृत करने में अड़चन है। Colchichum luteum जो काश्मीर, चम्बा आदि स्थानों में होता है, British Pharmacopoea में वर्णित प्रसिद्ध Colchieum autumnale के समान लाभकारी पाया गया है। इसी तरह Piciasma Quassioides (भारंगी) और Gentana kurroo जो यहाँ कसरत से होते हैं Piciasma excelsa और G. lutea के ही सदृश उपयोगी प्रमाणित किये गये हैं। अन्वेषण करने पर इसी तरह न जाने कितने उपयोगी पौधे मिल सकते हैं जिनका उपयोग करके देश अपनी आर्थिक दशा सुधार सकता है?

अब यह देखना है कि डाक्टर, वैज्ञानिकों की सहायता से, आयुर्वेदीय तथा यूनानी औषधियों का भविष्य किसी प्रकार सुधार सकते हैं। क्या वे उनकी प्रसिद्ध औषधियों को पाश्चात्य चिकित्सा में भी स्थान दिला सकते हैं? इसमें अनेक कठिनाइयाँ हैं। पहले तो इनकी सब औषधियों की पूरी जानकारी ही किसी को नहीं है। एक ही औषधि भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न द्रव्यों के नाम से ग्रहण की जाती है और भिन्न द्रव्य एकही औषधि के नाम से प्रयोग में लाया जाता है। घर बैठे औषधियों का निर्णय करना असम्भव सा प्रतीत होता है। इसके लिये देश भर के वैद्यों का सहयोग आवश्यक है। यदि देश भर में भ्रमण करके प्रचलित औषधियों का संग्रह किया जाय, उनके गुण-धर्म की जाँच की जाय तो बहुत सम्भव है कि बहुतों का निर्णय हो जाय। इस सम्बन्ध में जङ्गली जातियों की सहायता बहुत काम की होगी। निश्चित पदार्थों का अन्वेषण रसायन, वनस्पति तथा चिकित्सा-शास्त्र के विद्वान् अच्छी तरह कर सकते हैं। इस तरह का प्रयत्न अबतक जो कुछ हुआ है उसमें बहुत सफलता मिली है। Hydno carpus wightiana कुष्ट के लिये, Colycopteris floribunda साण्टोनीन के समान कृमि के लिये, कुटज और शाल्मली प्रवाहिका के लिये और सप्तपर्ण मलेरिया के लिये गुणदायक पाया गया है। इस प्रकार का कार्य्य लगभग सौ वर्ष पहले प्रारम्भ किया गया था और अब तक बहुत से वैद्यों के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से परीक्षा की जा चुकी है। उनकी रासायनिक परीक्षा, जन्तुओं पर उनके सक्रिय पदार्थों (active principles) का प्रभाव और अन्त में उनके कल्पों का रोगियों पर प्रयोग करके देखा गया है। इस तरह यह प्रमाणित होता आ रहा है कि देश-प्रचलित औषधियों में कितनी ऐसी हैं जिनका यदि प्रचार हो जाय तो मानवसमाज का बड़ा लाभ हो। इनमें कुछ ऐसी भी निकली हैं जो उपयोगी हैं; पर पाश्चात्य औषधियों के समान नहीं, और कुछ तो ऐसी भी निकली हैं जो बिल्कुल बेकार मालूम होती हैं। इसका कारण भी स्पष्ट है। आजकल काम में लाई जाने वाली अनेक ऐसी औषधियां हैं जो हमारी अनभिज्ञता के कारण ऋषियों की बतलाई प्रसिद्ध औषधियों के नामपर प्रचलित हो गई हैं। वे यदि बेकार सिद्ध होती हैं तो वैद्यों को रुष्ट न होना चाहिये। ऐसी ही औषधियों की व्यर्थ प्रशंसा करके हम लोग अपनी प्राचीन पद्धति को वैज्ञानिकों की दृष्टि में गिरा रहे हैं। कितने ही पाश्चात्य विद्वानों की श्रद्धा आयुर्वेद में कम हो गई, इसका मुख्य कारण यही है। इसलिये जब तक संगठित रूप से वनस्पतियों का अन्वेषण न होगा और यह [illegible] जायगी, आयुर्वेद-विज्ञान का रहस्य अन्धकारमुक्त न होगा।

वानस्पतिक-चिकित्सा

श्रीचन्द्रदत्त शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य

वनस्पति-प्रधान भारतवर्ष के लिये ही नहीं; प्रत्युत समस्त संसार के लिये सूक्ष्म एवं गम्भीर विचार करने के उपरान्त निश्चय यही कहना पड़ता है, कि अब भी वही अनल्पकाल से ग्राह्य तथा चरक और सुश्रुत ऋषियों द्वारा प्रतिपादित वनस्पति-चिकित्सा ही अधिकतर हितकारिणी है। इस चिकित्सा की उपादेयता का विवेचन संक्षेपतः केवल दो कारणों को ही दृष्टिपथ में रखते हुए करने जा रहा हूँ। प्रथम तो अर्थ और दूसरे रोगों पर वनस्पतियों का प्रभाव।

इस बीसवीं शताब्दि में जब कि आर्थिक संकट केवल भारत को ही नहीं, प्रत्युत पश्चिमीय देशों को भी, नहीं नहीं; समस्त संसार को बुरी तरह सता रहा है; ऐसी शोचनीय परिस्थिति में कोई भी कार्य करने के लिये निश्चय करने के पूर्व आर्थिक स्थिति का भी पर्यवेक्षण कर लेना परमावश्यक है। अतः जब से यहाँ प्रथम अर्थ पर दृष्टि डालता हूँ, और देखता हूँ, कि करोड़ों मनुष्य इस प्रकार अर्थाभाव, दुर्भिक्ष तथा बेकारी के शिकार हो रहे हैं, उन्हें अपना भारमय जीवन निर्वाह करने के लिये एक बार भी खाने को अन्न और तन ढँकने को वस्त्र मिलना असम्भव हो रहा है, तब उनकी चिकित्सा के विषय में विचार करने पर यही निर्विवाद सिद्ध होता है कि उनके लिये वनस्पति-चिकित्सा ही परमोपयोगिनी है। उदाहरण-स्वरूप मान लीजिये, किसी अर्थहीन कुटुम्ब में कोई रोगाक्रान्त व्यक्ति टूटी चारपाई पर पड़ा हुआ अपनी मृत्यु की घड़ियाँ गिन रहा है, घरवाले पूर्व से ही अशन-वसन के लिये परमुखापेक्षी हैं; ऐसी दयनीय स्थिति में उनके लिये कौन सी चिकित्सासरणि का अवलम्बन उपयुक्त होगा? कहना यही पड़ता है कि वनस्पति-चिकित्सा का। यदि मान लिया कि आर्थिक दृष्टि से वनस्पति-चिकित्सा की ही उपयोगिता उपयुक्त प्रतीत होती है, पर फलतः इसकी सार्थकता नहीं मालूम पड़ती। इसके लिये मैं "वनस्पतियों का रोगों पर प्रभाव" नामक द्वितीय कारण दे रहा हूँ। अर्थात् वनस्पति-चिकित्सा केवल अल्पमूल्यवती ही नहीं; प्रत्युत रोगों पर भी अन्य चिकित्सा से कहीं अधिक आश्चर्यकारी प्रभाव दिखलाने वाली है। एक नहीं सहस्रों बार देखा गया है, किसी भी चिकित्सासरणि से शमन न होने वाले, भयङ्कर से भयङ्कर रोगों का समूलोन्मूलन सद्यः फलदायिनी वनस्पतियों से हुआ है। आज संसार में घर-घर छाई हुई समग्र चिकित्साओं की भित्ति इन वनस्पतियों पर ही निर्भर है। किसी ने इनके सत्व को ग्रहण किया है, तो किसी ने इनके अर्क को!

इसके अतिरिक्त अन्य कई चिकित्साओं का ये उपादान कारण हुई हैं। जैसे रस चिकित्सा को ही लीजिये, इन्हीं के संयोग से रस और उपरसों का शोधन, जारण, मारण इत्यादि होता है; अन्यथा उनकी निरर्थकता हो जाती है। प्रयोग करते समय भी ये वनस्पतियाँ ही रसादिकों का अनुपान बनती हैं। अर्थात् उस समय भी ये ही अग्रगामिनी होती हैं। एक-एक वनस्पति के अन्दर जितने गुण पाये जाते हैं, यदि हमें उनका भलीभाँति परिज्ञान हो तो निःसन्देह उस एक ही वनस्पति से एक नहीं, अनेक रोगों पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। उदाहरण के लिये मैं यहाँ दो-एक के सम्बन्ध में निवेदन करता हूँ।

(१) वायविडङ्ग को ही लीजिये। वायविडङ्ग के बीज औषध के कार्य्य के लिये ग्रहण किये जाते हैं। ये किंचित्

[पृष्ठ २८ का शेषांश]

आशा है कि हमारे नवयुवक वैद्य, सच्चे वैज्ञानिक की तरह, अपने शास्त्र की उन्नति करने का प्रयत्न करेंगे। आयुर्वेद अथवा कोई भी चिकित्सा-विज्ञान विकास-वञ्चित तथा प्रगतिहीन नहीं रह सकता। उन्नति में ही उसका अस्तित्व है। प्राचीन ऋषियों की विद्या में विश्वास और श्रद्धा रखते हुए भी जबतक हम आधुनिक विद्याओं का, चाहे वे किसी देश या जाति की क्यों न हों, आदर करना नहीं सीखेंगे तबतक हम अपनी विद्याओं का भी ठीक आदर नहीं कर सकते।

कड़वे तथा कसैले होते हैं। इसमें एक अम्लप्रकृति सत्व रहता है जिसे विडङ्गाम्ल कहते हैं।

गुण—वायविडङ्ग, उष्ण, दीपन पाचन, अल्प-अनुलोमक, मूत्रजनन, कृमिघ्न, वातहर, बलकारक, मस्तिष्क और ज्ञानतन्तुओं के लिये बलदायक, रक्तशोधक और रसायन है। इसके खाने से मूत्र का वर्ण लाल होता है, तथा मूत्र में अम्लता बढ़ती है। वायविडङ्ग की क्रिया समस्त शारीरिक ग्रन्थियों पर तथा विशेषतः रसग्रन्थियों पर होती है। इससे शरीर की सब क्रियाएँ सुधरती हैं। मात्रा एक से दो तोला तक, इससे कुछ अधिक भी सेवन कर लेने से हानि नहीं होती। यह निरुपद्रवी औषध है।

उपयोग—छोटे बालकों के लिये यह अव्यर्थ औषध है। खाया हुआ अन्न जब शरीर में लगता नहीं, हाथ-पाँव पतले हो जाते हैं, त्वचा ढीली पड़ जाती है, पेट मोटा हो जाता है, उस समय बालकों का रक्षक वायविडङ्ग ही है। वायविडङ्ग के साथ अनन्तमूल देना अधिक लाभदायक होता है। गण्डमाला में वायविडङ्ग, गुग्गुल, मनःशिला, सुवर्ण और सावरश्रृङ्गभस्म घृत और मधु के साथ देने से क्रमशः बहुत ही अच्छा लाभ होता है। त्वचा के रोगों में वायविडङ्ग का लेप करते हैं। अग्निमान्द्य, अरोचक, विषमाग्नि, वमन, शूल, अर्श और पेट फूलना इन रोगों में वायविडङ्ग तक्र के साथ दिया जाता है। अपच से कभी कभी कास और श्वास हो जाता है, तब वायविडङ्ग पिप्पली के साथ देते हैं। गोल और चिपटे कृमि के गिरने के लिये एक तोला वायविडङ्ग जल के साथ देते हैं, इससे कृमि मर कर गिर जाते हैं। मूत्राशयशोथ में जब मूत्र में क्षार अधिक हो और मूत्र बहुत आविल हो, उस समय वायविडङ्ग देने से मूत्र का आविलभाव कम हो जाता है। लड़कों को आरोग्य रखने के लिये उन्हें दूध में वायविडङ्ग पकाकर वह दूध नित्य देवें।

(२) इसी प्रकार चिरायता को ले लीजिये। देखिये, उसके अन्दर कितना गुण भरा है। विस्तारपूर्वक न लिखकर केवल उसकी एक कल्पना लिखता हूँ।

चिरायता आधा सेर, जल अढ़ाई सेर; इनका क्वाथ बनावें। आधा सेर अवशिष्ट रह जाने पर छान कर बोतल में भर देवें। इस क्वाथ को दो-दो तोले की मात्रा से दो-तीन बार ज्वर आने के पूर्व पीने से एकतरा, तृतीयक इत्यादिक ज्वर अवश्य नष्ट होते हैं, परीक्षित प्रयोग है।

(३) अनन्तमूल की एक कल्पना लीजिये, कैसा रक्तशोधक है। अनन्तमूल अठन्नी भर, मुण्डी का फूल और गुडूची भी अठन्नी-अठन्नी भर आध सेर क्वाथ में पकावे। आधपाव शेष रहने पर रक्तदोष में पीने से अद्भुत लाभ होता देखा गया है।

(४) मौलिश्री ही लीजिये, इसकी अनेक कल्पनाएँ होती हैं, दाँतों के लिये यह अव्यर्थ महौषधि है।

(५) आँवले को लीजिये, इसकी एक नहीं सैकड़ों से भी अधिक कल्पनाऐं अगण्य रोगों पर हैं। श्वेत प्रदर में, प्रमेह में, आँवला, दारु हल्दी, गिलोय और मुलहठी, का क्वाथ दिया जाता है। २—आँवला और हल्दी का क्वाथ वस्तिशोथ में देते हैं। ३—अत्यार्तव में आँवले का चूर्ण ६ मासे, मिश्री ६ मासे के साथ लेने से विचित्र लाभ होता है। ४—सूखे आँवलों को घी में भून कर बकरी के दूध में भिगो देवे और फूल जाने पर उसी दूध से उस आँवले को तथा उसमें ८, १० लाल कनेल का फूल डाल कर पीस कर शिर पर लेप करे, इससे भयङ्कर से भयङ्कर शिरःशूल एक बार में नष्ट होता देखा गया है! सहस्रों बार का यह परीक्षित प्रयोग है। ५—च्यवनप्राश की कल्पना आँवले की ही है जो मृत्यु के मुख से भी रोगी को निकाल कर शरीर के अन्दर नवजीवन का संचार करती है। ६—चरकोक्त आमलकी रसायन को लीजिये। देखिये, कितना आश्चर्योत्पादक प्रभाव उसके अन्दर छिपा है।

कहाँ तक कहा जाय किसी भी वनस्पति को लीजिये, उसके अन्दर विचित्र रोगनाशक शक्ति विद्यमान है। पर ध्यान इस बातका रहना आवश्यक है कि इन वनस्पतियों का व्यवहार पूर्णतया शास्त्रीय परिभाषा के अनुकूल हो। यह नहीं कि एक पदार्थ का चूर्ण कर लिया और एक वर्ष तक उसका प्रयोग करते चले जा रहे हैं; लाभ न होने पर कहते हैं कि वनस्पतियों में अब गुण नहीं रह गया; ब्राह्मी का चूर्ण बनाया था, उससे कुछ लाभ ही नहीं होता। यह नहीं कहते कि मैंने केवल 'अमृतसागर' ही पढ़ा है, मुझे मालूम नहीं कि चूर्णों में गुण कब तक बना रहता है। प्रयोगकर्ताओं को भी साथ ही साथ वैद्यक-शास्त्र का पण्डित भी होना चाहिये।

"मासद्वयात्तथा चूर्णं हीनवीर्यत्वमाप्नुयात्"—

आत्म-निवेदना

संसार का शिक्षक हमारा देश भारतवर्ष आयुर्विज्ञान-शास्त्र का भी प्रधान आचार्य है। प्रकृति-तत्त्वान्वेषण में हमारे प्राचीन आचार्य जितना आगे बढ़ गये थे और उन्होंने जो अकाट्य सिद्धान्त निर्धारित किये हैं, आजतक संसार का कोई भी विज्ञान वहाँतक नहीं पहुँच सका है। उन्होंने हमें जो अक्षय ज्ञान-निधि प्रदान की थी, हम उसका संरक्षण भलीभाँति न कर सकने के कारण, अपनी अकर्मण्यता और अज्ञानता से उस अक्षोभ्य-महानिधि को अपने से दूर करते जा रहे हैं। हमने उनकी अनन्त ज्ञान-विज्ञान राशि को इतना सङ्कीर्ण और क्षुद्र स्वार्थों का साधन बना डाला है कि भविष्य में उसका अस्तित्व ही न रह जाय। हम उनके नाम मात्र से आतुर और दीन जनता के साथ विश्वासघात भी कर बैठते हैं। आज संसार में अनेक प्रकार की चिकित्सा-प्रणालियाँ प्रचलित हैं और आविष्कृत भी होती जा रही हैं, आयुर्विज्ञान के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण गवेषणाएँ एवं अनुसन्धान हो रहे हैं, परन्तु कायचिकित्सा के सम्बन्ध में भारतीय आयुर्विज्ञान के अटलसिद्धान्तों से सभी नीचे हैं। नवजीवन और पुनर्यौवन ही नहीं; 'एकोऽसौ रसराजः शरीर मजरामरं कुरुते' की घोषणा करके जीवन्मुक्ति का प्रत्यक्ष स्वरूप दिखलाने का साहस भी रखते थे। आज जब अनाड़ी, अनभिज्ञ और सङ्कीर्ण-हृदय नवशिक्षित व्यक्ति पाश्चात्य-चिकित्सा-प्रणाली की प्रशंसा के साथ-साथ हमारे सिद्धान्तों पर आघात पहुँचाते हैं; तब उनकी मुग्धता पर हँसते हुए भी हृदय को दारुण वेदना होती है कि हम अपनी अकर्मण्यता और अनभिज्ञता के कारण एकमात्र स्वार्थान्ध हुए जा रहे हैं और अपनी इस अनन्तनिधि का नाश करने के कारण हुए जा रहे हैं। यदि आज हम योग्य और सुसङ्गठित हों तो भारत क्या; समस्त विश्व में अपने आयुर्विज्ञान का निर्बाध प्रचार कर सकते हैं। कोई भी शक्ति हमारे उत्साह के आगे मस्तक ऊँचा नहीं कर सकती। फिर हमें तो एकमात्र परिश्रम करना है महान्‌विज्ञानवेत्ता हमारे पूर्वज तो मूलतत्वों का अधिकांशतः अनुसन्धान कर ही गये हैं, हमें अब उनकी पुनः परीक्षा और समीक्षा द्वारा उन्हें सुशृङ्खलित करने एवं उसे समयोपयोगी बनाने का महान् प्रयत्न करना है। इसमें भी यदि हम शिथिल और प्रमादी बने रह जाँय; तो सचमुच अत्यन्त खेद और लज्जा की बात है।

पृष्ठ ३० का शेषांश

इस परिभाषा का उन्हें ज्ञान होना चाहिये। फिर-देखिये, उस चूर्ण में गुण है वा नहीं।

लेख बढ़ता ही जा रहा है, अतः अब अधिक विस्तार नहीं कर रहा हूँ। इतने ही उपर्युक्त प्रयोगों से आप लोगों को मालूम हो गया होगा कि कितने गुण वनस्पतियों में भरे पड़े हैं और किस तरह इनकी कल्पनाएँ जादू की तरह कारगर होती हैं।

अतः उपर्युक्त दोनों कारणों से तो केवल गरीबों के लिये; और केवल द्वितीय हेतु-अर्थात् "रोगों पर वनस्पतियों का प्रभाव"-से धन वालों के लिये; फलतः गरीब अमीर, बाल, वृद्ध, नर, नारी, रोगी, निरोगी सभी के लिये मुक्तकण्ठ से यही कहना पड़ता है कि आवश्यकता पड़ने पर सब को वनस्पति चिकित्सा की ही पवित्र गोद में शरण लेनी चाहिये।

हमारा आयुर्वेद शास्त्र अधिकांशतः लुप्त हो चुका है। हम उसकी छाया में जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उसका पुनरुद्धार और समुन्नति तो दूर रही, हम स्वयं ही उसके पूर्ण विज्ञान से वञ्चित रह जाते हैं। जो चाहता है, वही परम उत्तर-दायित्व-पूर्ण जन समाज के प्राणाचार्य का पद प्राप्त कर लेता है! राज-नियन्त्रण के बिना भारतीय चिकित्सा-प्रणाली में घोर धाँधली मच गयी है। अनेक अनाड़ी व्यक्ति जन-समाज के अमूल्य प्राणों के प्रश्न को हल करने बैठ जाते हैं!

विज्ञान, धन का प्रधान साधन होने पर भी जनता के जीवन का भी साधन होता है। हमारा आयुर्विज्ञान एक मात्र निम्नतम स्वार्थों की पूर्त्ति का साधन हो गया। गली-गली इसकी उपाधियाँ खुले-हाथों बिकने लगीं और निकम्मे लोग भी इस महान् दायित्व-पूर्ण कार्य के उत्तरदायी बन गये हैं। जो लोग शास्त्रज्ञ हैं, वे भी इस व्यवसाय को शान्ति-पूर्ण-जीवन व्यतीत करने का साधन बना कर आगे बढ़ने की चेष्टा नहीं करते, प्रत्युत उसी प्रवाह में बहने लगते हैं, ऐसी परिस्थिति में भारतीय आयुर्विज्ञान की समुन्नति होना अतिकठिन-सा हो गया है। भारतीय-चिकित्सक-समाज में अब भी जीवन की क्षीण रेखा विद्यमान है, साधना से शक्ति दुर्लभ भी नहीं है; अतः इस विशाल-विस्तृत क्षेत्र में भिन्न भिन्न विभागों में प्रारम्भिक कार्य करने की बड़ी ही आवश्यकता है। आयुर्विज्ञान के युवक विद्यार्थियों का इस क्षेत्र में उतर कर ठोस और लोकोपयोगी कार्यों में भाग लेना आवश्यक समझ कर ही चरक-अनुसन्धान-भवन की स्थापना की गयी है।

आयुर्विज्ञान-शास्त्र इतना विशाल और विस्तृत है कि इसकी सर्वाङ्ग-समुन्नति का एक साथ सम्पन्न होना असम्भव है और यह कार्य भी अनेक व्यक्तियों द्वारा सुदीर्घकाल एवं अनन्त धन-व्यय-साध्य है। अतः इसके एक-एक अङ्ग या विषय को लेकर यदि कुछ व्यक्ति पृथक्-पृथक् कार्य करें तो कहीं कुछ हो सकता है। यही विचार कर चरक-अनुसन्धान-भवन ने आयुर्वेद के मूलतत्व वनौषधि को अपना ध्येय बनाया है। हमारा यह विश्वास है कि संसार की सारी चिकित्साओं का मूल आधार वनौषधियाँ ही हैं और भारतीय वैज्ञानिकों से बढ़ कर इस विषय का ज्ञान भी किसी को नहीं है। आयुर्वेद शास्त्र के सर्व प्राचीन और प्रधान आचार्य चरक ने एक मात्र इसीमें प्राणों को ओत-प्रोत कर दिया है। कालक्रम से वे सब महाशक्तिशालिनी दिव्य वनौषधियाँ अब विस्मृति के अनन्त गर्भ में विलीन होती जा रही हैं। उनका स्वरूप-परिचय और प्राप्ति दोनों ही दुर्लभ हो गये इसीसे हमारा घोर अधःपतन हुआ जा रहा है। इन जड़ी-बूटियों द्वारा हम भारत ही नहीं; संसार के सच्चे प्राणाचार्य बन सकते हैं। अतः इस आवश्यक अङ्ग की पूर्त्ति के लिये सर्वविध प्रयत्न करना ही हमारा ध्येय है। इसीलिये वनौषधि विज्ञान के आदरणीय और प्रसिद्ध आचार्य 'चरक' की स्मृति में इस संस्था का नाम चरक-अनुसन्धान-भवन रखा गया और इसका दूसरा उद्देश्य चरक-चिकित्सा-प्रणाली का प्रचार करना भी है।

प्रस्तुत पत्रिका उसी की मुखपत्रिका है। इस समय विचार और प्रचार की दृष्टि से पत्रिका की आवश्यकता और उपादेयता बतलाने की आवश्यकता नहीं है। अब तो यही कहना है कि

सहृदय पाठक इसके प्रचार और समुन्नति में सहयोग प्रदान करें, ताकि इसके उद्देश्यों को सफल बनाया जा सके। पत्रिका आपके सम्मुख है। हम न तो हिन्दी-भाषा के विद्वान् ही हैं और न कुशल सम्पादक ही। अतः इस विषय में हम व्यर्थ बातें न बनाकर अपने सहृदय पाठकों से यही प्रार्थना करते हैं कि वे हमारी त्रुटियों को सुधारते हुए अपने सत्परामर्शों और अमूल्य उपदेशों द्वारा अनुगृहीत करें। हम अपने को सर्वज्ञ-भट्टाचार्य समझ कर किसी प्रकार का दर्प या मिथ्याडम्बर प्रकट करना घृणास्पद समझते हैं। महर्षि चरक के शब्दों में—'सर्वो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः, शत्रुश्चाबुद्धिमताम्।' यही हमारा सिद्धान्त है। यह समय ठोस और सत्य कार्य करने का है।

कृतज्ञता-प्रकाश :—

अन्त में, हम अपने उन अकारण-वत्सल बन्धुओं का कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करना आवश्यक समझते हैं, जिन्होंने हमें पूर्ण अवलम्बन देकर प्रोत्साहित किया है। इनमें सबसे प्रथम वनौषधि-विज्ञान के प्रसिद्ध-विद्वान्, 'बूटी-दर्पण' के भू०पू० सम्पादक और 'रूप-निघण्टु' कोषकर्त्ता बाबू रूपलाल वैश्य महाशय हैं, जिन्होंने पत्रिका निकालने के लिये हमें प्रोत्साहित किया। आप वनौषधि-विज्ञान के विख्यात विद्वान् हैं।

इसके अतिरिक्त पत्रिका के सम्पादन, प्रकाशन और मुद्रण के सम्बन्ध में जिन मित्रों ने अत्यधिक साहाय्य-प्रदान किया है और भविष्यत् में साहाय्य देंगे, मेरे घनिष्टतर-सम्बन्धी बन्धु हैं अतः उनके विषय में कुछ कहना अनावश्यक समझ कर केवल उनका नाम ही प्रकाशित करना आवश्यक समझते हैं।

१. हिन्दी-संसार के सुप्रसिद्ध लेखक और सम्पादक भाई शिवपूजन सहाय, हिन्दी-भूषण।

२. हिन्दी-चित्रमय-संसार के प्रसिद्ध कलाकार भाई केदारनाथ शर्म्मा, 'चित्रकार'।

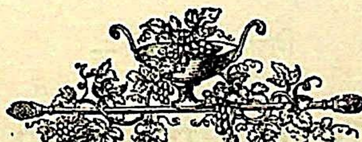
३. संस्कृत-साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान् भाई गौरीनाथ जी पाठक, साहित्याचार्य, और

४. मुद्रण-कला के विशेषज्ञ भाई लक्ष्मीनारायण शर्म्मा।

इनके अतिरिक्त मेरे वात्सल्य-भाजन कनिष्ठ बन्धु चन्द्रशेखर त्रिवेदी आयुर्वेदाचार्य, ए० एम० एस्० (हिन्दू-विश्व-विद्यालय) शुभाशीर्वाद-पूर्ण परिचय-प्रकाश करना आवश्यक है, जो चरक-अनुसन्धान-भवन के प्रधान-चिकित्सक हैं, अनुसन्धान-भवन का समस्त कार्य-भार होने पर भी इन्होंने वनौषधि के सम्पादन और प्रकाशन में सर्वाधिक सहायता प्रदान की है और करेंगे।

सबसे अधिक कृतज्ञ तो हम अपने उन माननीय विद्वान् लेखकों के हैं जिन्होंने हमारी प्रार्थना पर अपना अमूल्य समय प्रदान कर शीघ्र ही लेख भेजने की कृपा की है और भविष्य में लिखने के लिये उद्यत हैं।

इतिशम्।



संगीत-प्रेमियों को शुभ-सूचना

छप गया !

छप गया !

शिव संगीत प्रकाश

पृष्ठ संख्या २५०

मूल्य २॥)

रचयिता :—

काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय के संगीत कालेज के प्रिन्सिपल

श्री शिवप्रसादजी त्रिपाठी, गायनाचार्य



इसमें सूर, तुलसी, कबीर, मीरा आदि भक्तों एवं अन्य प्राचीन संगीताचार्यों के भावपूर्ण सुमधुर पद अत्यन्त सरलता से अनेक राग रागिनियों में स्वर-लिपि-द्वारा समझाये गये हैं।



यह संगीत शास्त्र की अद्वितीय एवं विद्वत्तापूर्ण अद्भुत-पुस्तक है।

मिलने का पता :—

मैनेजर :—

शारदा संगीत भवन,

अस्सी, काशी।

चरक-अनुसन्धान-भवन

हमारा उद्देश्य

अन्वेषण, सत्य, सेवा और श्रम।

* * * *

जनता को सच्चा लाभ पहुँचाकर स्वयं उचित लाभ प्राप्त करना।

* * * *

जनता की समयानुकूल सुविधाओं पर पूरा ध्यान देना।

* * * *

विदेशी-चिकित्सा-भक्त बाबुओं के शौकों और सुविधाओं को प्राचीन महाशक्तिशाली, सस्ती तथा शुद्ध औषधियों द्वारा पूरा करना।

* * * *

सच्ची और ताज़ी तथा शास्त्रीय रीति से परिश्रम द्वारा प्राप्त वनस्पतियों और उन्हीं के द्वारा ठीक-ठीक तैयार की गई औषधियों से वैद्यों की सहायता करना।

* * * *

लुप्तप्राय चिकित्साओं और दिव्य रसों तथा रसायनों के अन्वेषण तथा आविष्कार द्वारा वैद्यों की सहायता के साथ साथ जनता की सच्ची सेवा करना।

* * * *

भारतीय चिकित्सा के गुण और लाभ की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट करके धन-धर्म-संहारिणी विदेशी औषधियों को चैलेञ्ज देना।

* * * *

जनता एवं वैद्यों के उपयुक्त आयुर्वैदिक साहित्य का निर्माण एवं प्रकाशन करना।

* * *

वानस्पतिक चिकित्सा का महत्त्व

भारतवर्ष की महाशक्तिशालिनी वनस्पतियाँ ही रसों की प्राण हैं। उन्हीं से रसों में गुण लिये जाते हैं और वे ही उनका अनुपान होती हैं।

* * * *

भारत की अति प्राचीन, सस्ती, सुन्दर और स्वाभाविक वानस्पतिक चिकित्सा परिश्रमसाध्य होने पर भी सर्वसुलभ हो सकती है।

* * * *

इस समय की आर्थिक परिस्थिति और सुविधा के अनुसार यही चिकित्सा अत्यन्त उपयुक्त है।

* * * *

पुराने से पुराने रोगों के लिए हारकर और हताश होकर इसी चिकित्सा-प्रणाली की शरण में आना पड़ता है।

* * * *

होमियोपैथी और एलोपैथी चिकित्सा में भी भारतीय वनस्पतियाँ ही रङ्ग-विरङ्गे ड्रेसों में नज़र आती हैं।

* * * *

यही चिकित्सा ऐसी है कि आबाल-वृद्ध-वनिता निर्भय होकर इसका सेवन कर सकते हैं; क्योंकि इससे यदि लाभ न भी हो तो हानि कदापि नहीं हो सकती।

* * * *

आयुर्वेद के सर्वप्रथम और प्रधान आचार्य महर्षि चरक, सुश्रुत और वाग्भट आदि ने वानस्पतिक चिकित्सा पर ही अधिकाधिक जोर दिया है।

* * * *

यही चिकित्सा-प्रणाली भारतवासियों की प्रकृति और भारतवर्ष के जलवायु के अनुकूल है। साथ ही यह स्वाभाविक, सरल, सुलभ, शुद्ध और रामवाण के समान अमोघ भी है।

*   *   *   *

हमारा चिकित्सा-विभाग

दीनों और अनाथों को बिना मूल्य दवाएँ दी जाती हैं।

*   *   *   *

पैसा खर्च कर दवा लेने वालों को भी दो पैसे खुराक से दो आने खुराक तक ही मूल्य देना पड़ेगा।

*   *   *   *

औषधियाँ होमियोपैथी और एलोपैथी के समान शुष्क और द्रव रूप में बड़ी ही सुविधा के साथ दी जाती हैं। इनमें अनुपानों और काढ़ों की तवालत नहीं उठानी पड़ती।

*   *   *   *

स्वास्थ्य-परीक्षा का बिना मूल्य प्रवन्ध किया गया है। आप प्रति सप्ताह आकर अपने स्वास्थ्य की रिपोर्ट ले सकते हैं।

हमारा वनस्पति-विभाग

हमने काश्मीर, काँगड़ा, रावलपिण्डी, अल्मोड़ा, देहरादून, राँची, नेपाल आदि हिमालय के भिन्न-भिन्न औषधि-भण्डारों से और विन्ध्याचल के विभिन्न स्थानों से उन दिव्य और ताजी औषधियों के मँगाने का प्रवन्ध किया है। शहरों और बाजारों में दूकानों पर जो बरसों की सड़ी-गली-घुनी वनस्पतियाँ (काष्ठौषधियाँ) मिलती हैं, वे सन्दिग्ध और कृत्रिम होती हैं; इसलिए हम कभी बाजारू चीजों का व्यवहार नहीं करते।

*   *   *   *

थोक आर्डर मिलने पर हम मनों ताजी और विशुद्ध वनस्पतियाँ दे सकते हैं और उनसे बनी—आसव, अरिष्ट, अर्क, घृत, तैल, अवलेह, लेप, नस्य, यवागू, पेया आदि—आर्ष औषधियाँ भी दे सकते हैं। उन्हीं के द्वारा तैयार किये गये दिव्य रस और शुद्ध रसायन भी तैयार किये जाते हैं।

*   *   *   *

परीक्षा प्रार्थनीय

*   *   *   *

हमारा प्रकाशन-विभाग

वनौषधियों एवं आयुर्वैदिक जगत् के महत्त्व-पूर्ण और उपयोगी विषयों के अन्वेषण, प्रकाशन एवं प्रचार के लिए पत्र प्रकाशित करना।

*   *   *   *

आयुर्वैदिक प्राचीन पुस्तकों के सरल, सुलभ और सस्ते संस्करणों द्वारा आयुर्वेद के विद्वानों, वैद्यों और विद्यार्थियों को सहायता पहुँचाना।

हमारा रस-विभाग

धातुओं और उपधातुओं की भस्मों एवं रसों के लिए आप चरक-अनुसन्धान-भवन को आर्डर दीजिये। हमारी भस्मों में यही विशेषता है कि हम अति प्राचीन प्रसिद्ध वैद्यों एवं महात्माओं द्वारा निर्मित भस्मों का अन्वेषण करके संगृहीत करते हैं और ताजी एवं शास्त्रोक्त वनौषधियों द्वारा भावना देकर परिश्रम और विशेषता से तैयार करते हैं।

हम हजार पुट या पाँच सौ पुट की झूठी डींग हाँक कर धोखा नहीं देते। परन्तु उनसे हमारी भस्में अधिक लाभ करती हैं या नहीं, इसकी तुलनात्मक आलोचना आप स्वयं कीजिये।

फिर भी मूल्य सन्तोषजनक है—पत्र-व्यवहार कीजिये।

लेख-सूची

१—चरक वर्णनम् ३४
श्रीयुत आचार्यदामोदरलालशास्त्री गोस्वामी

२—ओषधिवर्णनम् ३४
श्रीयुत आचार्य दामोदरलालशास्त्री गोस्वामी

३—दूर्वा ३५
श्रीयुत राजा शशिशेखरेश्वरदेवशर्मा रायबहादुर

४—होमियोपैथी और वनौषधि ३८
श्रीयुत लक्ष्मीनारायण 'सरोज'

५—मिष्टर मच्छरमल की रामकहानी ४१
साहित्यरत्न श्रीबालमुकुन्द शर्मा विशारद

६—वनस्पतियों का प्रभाव ४३
प्रोफेसर बालकरामशर्मा, एम०डी०एच०, आयुर्वेदाचार्य

७—रस और वनस्पति ४५
श्रीयुत हनूमान्प्रसाद वैद्यशास्त्री

८—कर्णिकार ४७
श्रीयुत रूपलालवैश्य, सम्पादक-'बूटीदर्पण'

९—कस्तूरी ५०
'आयुर्विज्ञान' से

१०—वनौषधियों का महत्त्व ५१
श्रीयुत पण्डित बदरीनाथजी आयुर्वेद-पञ्चानन

११—प्लेग ५३
श्रीयुत चन्द्रशेखर त्रिवेदी, आयुर्वेदाचार्य, ए०एम्०एस्०

१२—गृञ्जन क्या है ? ५५
श्रीयुत रूपलालवैश्य सम्पादक, 'बूटीदर्पण'

१३—तालीश पत्र ५६
श्रीयुत लक्ष्मीनारायण शर्म्मा, 'दाधीच'

१४—भृङ्गराज ५७
श्रीयुत भैरवप्रसादशास्त्री, आयुर्वेदाचार्य

१५—पुष्पस्तवक ५९

१६—अभिमत ६२

१७—आयुर्वैदिक जगत् ६४

१८—मन्तव्य ६५

आवश्यक-सूचना

लाहौर से निकलनेवाला वनौषधि-विज्ञान का प्रसिद्धपत्र 'बूटी-दर्पण' कुछ दिनों से बन्द हो गया है। यह वनौषधि उसीके स्थान पर प्रकाशित की गई है।

श्रीरूपलालवैश्य, भू० पू० सम्पादक 'बूटीदर्पण'।

इस बार हमने वनौषधि के लिये अनेक चित्रों के ब्लाक बनने के लिये भेजे थे जिन्हें यथासमय न मिल सकने के कारण इस अङ्क में न दे सके। अतः यह अङ्क सूना ही रह गया है। पाठक क्षमा करेंगे। इसी प्रकार सौर चैत्र का अङ्क भी दो चार दिनों के विलम्ब से निकला है। इसका कारण इन दिनों परीक्षाओं की भरमार और अकस्मात् सुप्रभातम् के सम्पादनभार का आजाना है, प्रेस की पराधीनता भी हमारी शीघ्रता की बाधक हो जाती है। अतः सहृदय पाठक क्षमा करेंगे।

—सम्पादक।



चरकवर्णनम्

श्रीयुत् आचार्य दामोदरलाल शास्त्री गोस्वामी, साहित्य-दर्शनाचार्य, न्यायरत्न, दार्शनिक-सार्वभौम

सूत्रानुध्यानचेष्टा-प्रवणतममतिन्यक्कृतान्यप्रयत्नो
भूयो भूयो निदानावलिविहितपरिश्रान्तिसम्यग्विचारः।
मध्येकार्यं विमान-प्रथिम-विलसितादभ्रवुद्धिप्रकाशः
शारीर-स्थान विद्या विरचित विबुधानेकधाविस्मयौघः॥१॥

यावत्तर्केन्द्रियस्थाखिलविविधपरामृष्टिसृष्टप्रकर्षः
प्रादुर्भावाप्तदोषापसृतिकृत-चिकित्सा-विकासप्रवीणः।
कल्पेनावद्यदूरीकरणपटुचणख्यातलोकोत्तरेहः
सिद्धिं प्राप्त्या जगत्यां स जयति चरकः सर्वलोकोपकृत्यै॥२॥

ओषधिवर्णनम्

सर्वतापशमनैक-सद्गुणाऽनेकसौख्यपुरुषार्थसाधिका।
ओषधीपकरलालितौषधिर्नो मुदं जनयति क मानवे॥१॥

दूर्ब्बा

रायबहादुर राजा शशिशेखरेश्वरदेव शर्मा

साधारण दृष्टिसे दूर्ब्बा अतिशय सामान्य वस्तु होनेपर भी एक महौषध है। हमारे आयुर्व्वेदग्रन्थोंमें इसका एक नाम "अनन्ता" भी है; अर्थात् अनन्तका जिस प्रकार क्षय नहीं है, उसी प्रकार दूर्व्वाकी भी मृत्यु नहीं होती, अधिकन्तु अनन्त-गुणशाली-स्वरूप दूर्व्वाने "अनन्त" नाम भी प्राप्त किया है। दूर्व्वाका दूसरा नाम "सहस्रवीर्य्या" भी है। कई एक प्रकारकी दूर्व्वाएँ देखनेमें आतीं हैं, उन सबोंमें से 'नील (श्यामल) दूर्व्वा' देवदेवी-पूजनकार्य्यके लिये प्रशस्त है और उसका गुण भी सबसे अधिक है। आयुर्व्वेदमें नील दूर्व्वाके निम्नलिखित सकल साधारण गुण कहे गये हैं।

"नील दूर्व्वा हिमा तिक्ता मधुरा तुवरा हरेत्।
कफ-पित्तास्र-वीसर्प-तृष्णा-दाह-त्वगामयान्॥"

"इस श्लोकका अर्थ इस प्रकार है, नील दूर्व्वा शीतवीर्य्य तथा तिक्त-मधुर-कषाय-रसशाली है। इससे कफ, पित्त, रक्तदोष, वीसर्प, तृष्णा, दाह और चर्म्मरोग नष्ट होते हैं।

"गण्ड दूर्व्वा" नामक एक प्रकारकी दूर्व्वा होती है, उसकी एक असाधारण शक्ति यह है कि उसमें लोहा पर्य्यन्त भी द्रवरूप हो जाता है। आयुर्व्वेदमें इस दूर्व्वाके सम्बन्धमें कहा गया है कि—

"गण्डदूर्व्वा हिमा लोहद्राविनी ग्राहिणी लघु
तिक्ता कषाया मधुरा वातकृत् कटुपाकिनी
दाह-तृष्णा-बलाशास्र-कुष्ठ-पित्तज्वरापहा।"

गण्डदूर्व्वा—शीतवीर्य्य, तिक्तकषाय-मधुर-रस, संग्राही, लघु, वातवर्द्धक-कटुविपाकी तथा उसमें लोहा द्रुत हो जाता है। वह दाह, तृष्णा, कफ, रक्तदोष, कुष्ठ तथा पित्तज्वरनाशक है।

"श्वेतदूर्व्वा" नामक एक प्रकारकी और भी दूर्व्वा है। श्वेत-दूर्व्वाके गुण आयुर्व्वेदमें इस प्रकार वर्णित हुए हैं—

"श्वेतदूर्व्वा कषाया स्यात् स्वाद्वी व्रण्या च जीवनी।
तिक्ता हिमा विसर्पास्र-तृट्-पित्त-कफ-दाह-हृत्॥"

"श्वेतदूर्व्वा—कषाय-तिक्त-मधुररस, व्रण-नाशक, ओजोवर्द्धक तथा शीतवीर्य्य है। यह वीसर्प, रक्तदोष, तृष्णा, पित, कफ तथा दाहनाशक है।"

यदि यह प्रश्न किया जाय कि दूर्व्वामें जब ऐसे गुण हैं, तब मनुष्य सालसा न पीकर सहज-प्राप्य दूर्व्वा घासका रस तो अनायास ही पान कर सकते हैं? किन्तु वे लोग इसका सेवन क्यों नहीं करते?"

इसका उत्तर यह है—लोहा एक प्रकारका रक्तप्रवर्द्धक पदार्थ है। इतना होने ही से रेलिङ्ग को चबाते रहनेपर क्या शरीरके रक्तकी वृद्धि हो सकती है? ऐसा कदापि नहीं हो सकता। यथाविधि लौहघटित औषध प्रस्तुत करके व्यवहार करने हो से शरीरकी रक्तवृद्धि होगी। उसी प्रकार इस दूर्व्वाके अन्दर भी ओजोधातु-प्रवर्द्धक जो गुण निहित हैं, उन्हें और कई एक वस्तुओंके संग सुसंयुक्त करके परिस्फुट करना पड़ेगा, इतना करनेपर ही तब वह हम लोगोंके शरीरके लिये अधिक हितकर हो सकेगी। आयुर्व्वेदोक्त प्रायः समस्त औषधियोंके गुण ही इसी प्रकार परस्पर सम्मिश्रण अथवा संयोगके सापेक्ष हैं। किन्तु दूर्व्वाके जिन सकल साधारण गुणोंका वर्णन आयुर्व्वेदमें किया गया है, उनकी कुछ न कुछ परिमाण-क्रिया रोगीके देहकी अवस्था अनुसार केवल दूर्व्वा व्यवहार करनेसे भी अल्पप्रमाणमें उपलब्ध अवश्य ही होवेगी। जिस तरह थोड़ी देर के लिये मान लो, तुम्हारे शरीरमें अजीर्णादि

कारणवश वमनकी चेष्टा होने लगी, उस अवस्थामें यदि तुम कुछ परिमाणमें दूर्वाका क्वाथ (काढ़ा) प्रस्तुत करके पान कर लोगे, तो तुम्हें मालूम पड़ेगा कि तुम्हारे वमन-उद्वेगका अविलम्ब ही कुछ न कुछ ह्रास हो जावेगा।"

यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि उपर्युक्त जिन सब श्लोकोंका उल्लेख किया है उनमेंसे किसी एकमें भी दूर्वाके वमन-निवारक गुणका विषय तो प्राप्त नहीं होता; "क्या इसमें वमन-निवारक गुण भी वर्त्तमान है?"

इसका समाधान इस प्रकार हो सकता है कि आयुर्वेद-ग्रन्थोंमें ही नहीं, तन्त्र एवं पुराणादिके कई एक स्थानोंमें औषधियोंके कितने ही गुणोंकी कथाएँ वर्णित हुई हैं; उन सबकी सीमासंख्या करना सुकठिन है। उसके वमननिवारणकारी गुणका विषय जिस श्लोकमें वर्णित हुआ है, वह यह है:—

"दूर्वा तु तुवरा शीता मधुरा तृप्तिदायिनी।
पित्ततृड्वान्तिदाहास्रदोषश्रमकफापहा॥
मूर्छारुचिविसर्पांश्च भूत-बाधाश्च नाशयेत्॥"

अगर यह प्रश्न हो कि कभी कभी बिल्ली को दूर्वा खाकर उलटी करते हुए देखाजाता है। उस स्थान पर दूर्वा का गुण वमन निवारक न होकर उसके विपरीत वमनकारक ही सिद्ध हुआ करता है, यह क्यों?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अनेक पदार्थों की ही रोगी के शरीर के अवस्थभेद के कारण सम्पूर्ण विपरीत-द्विविध क्रिया होती हुई प्रायः देखी जाती है। जिस प्रकार बेल और केला रोगी के शरीर के अवस्था भेद से कभी तो धारक अथवा कभी कभी विरेचक हो जाते हैं।

अस्तु! लगभग पचीस-तीस वर्षों के पहले जिस समय हम भारत-परिभ्रमण कर रहे थे, उस समय अम्बाले के पास किसी एक छोटे ग्राम में एक साधु को दूर्वा के कच्चे कच्चे कोमल पत्ते चुनकर पत्थर पर उन्हें पीसते देखकर "यह किस काम में आवेगा" उनसे हमने यह प्रश्न किया था। उसके उत्तर में हमें यह विदित हुआ था कि, वे गुड़ के साथ एवं भाँग के सहित मिला कर उसका शरबत तैयार करेंगे, फिर उसे पीयेंगे। कारण, इससे उनका शरीर शीतल होगा। हमने स्वयं इसकी परीक्षा करके देखने का अवसर अब तक प्राप्त नहीं किया है, किन्तु दूर्वा की शुष्क मूल (सूखी हुई जड़) तम्बाकू के सदृश चिलम पर चढ़ाकर उसका धूम्रपान करने से शरीर का शीतह्रास हो जाता है और शरीर खूब गरम हो जाता है, हम इसकी परीक्षा करके देख चुके हैं। जबलपुर में एक साधू के साथ गाँजे की अपकारिता के सम्बन्ध में आलोचना के समय उन्होंने हम से इस प्रकार कहा था कि वे नशे के लिये गाँजे का व्यवहार नहीं करते हैं, परन्तु शीत-निवारण के उद्देश्य से गाँजे का व्यवहार करते हैं। उस समय गाँजे और अफीम की खेती इस देश से उठा देने का एक प्रस्ताव गवर्नमेण्ट के विवेचनाधीन था। इस उपलक्ष में उस साधू ने हम से कहा था कि—गाँजे को उठा देने में उनके लिये किसी प्रकार की असुविधा का कारण नहीं हो सकता। वनों-जङ्गलों में इस प्रकार की अनेक सामग्रियाँ वर्तमान् हैं, जिनके व्यवहार से शरीर के तापकी वृद्धि की जा सकती है। उक्त प्रकार की सामग्रियों में से दूर्वा की मूल भी एक सामग्री है, उन्होंने ही हमें यह बताया था। उनसे यह समाचार प्राप्त करके उसकी सत्यता की परीक्षा के लिये उस दिन ही अपने सङ्ग के एक चपरासी को दूर्वा का धूमपान कराकर हम यह जान सके थे की दूर्वा के मूल के धूमपान से सचमुच ही शरीर खूब गरम हो जाता है। उस समय शीतकाल की ऋतु होने पर भी बिहारीसिंह नामक हमारे साथ के एक दरबान को उक्त प्रकार के धूमपान के कुछ क्षण

पश्चात् ही अपना अङ्गावरण—चपकन-पायजामा इत्यादि सब कुछ खोल कर फेंक देना पड़ा था, यह बात हमें अभीतक भलीभाँति स्मरण है।

माँ के दूध में दूर्व्वा पीस कर नेत्रों के चारों ओर उसका लेप करने से 'आई हुई आँख' की पीड़ा शान्त हो जाती है, ऐसा सुनने में आता है, किन्तु इसकी परीक्षा करके अभीतक हमने नहीं देखा है। शरीर का कोई स्थान कट जाने पर तत्क्षणात् दूर्व्वा के कई एक पौधे उखाड़ कर थोड़े से जल में उन्हें पीस कर अथवा समीप में सिल-बट्टा न रहने पर अन्ततः उन सबको दाँत से चबा कर क्षत स्थान पर उन्हें कुछ समय तक दबा रखने से रक्तपात बन्द हो जाता है यह परीक्षित मुष्टियोग है। दुग्धभाण्ड में सद्यःदोहन किये हुए दुग्ध में दूर्व्वा के कइएक पौधे डाल रखने से भाण्डस्थित दुग्ध अपेक्षाकृत अधिक क्षण पर्य्यन्त अविकृत अवस्था में रह सकता है। इसकी भी परीक्षा करके देखी जा चुकी है।

पशु, पक्षी, जीव जन्तुओं में जिस प्रकार अनेकों जीव वर्त्तमान् हैं—जो अल्प आघात की प्राप्ति मात्र ही से मर जाते हैं, इनके अतिरिक्त अनेकों इस प्रकार के कष्ट-सहिष्णु दृढ़ देही जीव विद्यमान हैं, जो अत्यन्त पीड़न करने पर भी सहज में नहीं मरते, उसी प्रकार वृक्षलता-गुल्मादि उद्भिद् संसार में अनेकों ही ऐसे हैं, जो अति सामान्य कष्ट भी सहन नहीं कर सकते हैं अल्प पीड़न द्वारा ही वे मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं, इनके अतिरिक्त अनेकों इस प्रकार के उद्भिद् हैं जो बहुकालस्थायी हैं तथा नाना प्रकार के उत्पीड़न से भी सहज ही मरने की इच्छा नहीं करते। दूर्व्वा घास ही शेषोक्त श्रेणि में के सर्व्वोच्च आसन पर संस्थित है, ऐसा कहने में कुछ भी बाधा नहीं है; मछलियों में जिस प्रकार 'मागुर' अथवा 'कै' नामकी मछली अथवा कच्छप शीघ्र मरना नहीं जानते, उसी प्रकार उद्भिद् जगत् में दूर्व्वाघास को सहज ही प्राणत्याग कर देना मानों आता ही नहीं।

दूर्व्वा की जीवनीशक्ति अत्यन्य प्रबल है। दूर्व्वा के सदृश चिरजीवी होओ अथवा दूर्व्वा के सदृश जीवनीशक्ति समन्वित होओ प्रतीत होता है इस प्रकार के भाव को ही विजड़ित करके दूर्व्वा द्वारा स्नेहपात्र को आशीर्व्वाद करने की प्रथा सहस्र वर्षों से इस देश में प्रचलित चली आती है।

दूर्व्वा के औषध सम्बन्धीय इस प्रकार के असंख्य गुणों के अतिरिक्त उसमें और भी नाना प्रकार की उपकारिताएँ यथेष्ट हैं। हमें स्मरण होता है-एशियाटिक सोसायटी के त्रैमासिक पत्र में सर विलियम जोन्स द्वारा लिखित एक प्रबन्ध में हमने मानो यह पढ़ा था कि जितने प्रकार के गौखाद्य हैं, उन सब में इस देश की दूर्व्वाघास के सदृश गौओं के पक्ष में पुष्टिकर एवं उनका दुग्ध वृद्धिकर तथा दुग्ध का सुरस-उत्पादक खाद्य और कोई दूसरा नहीं है। स्टुअर्ट साहब कृत Plants of the Punjab पुस्तक में भी कई एक ठीक इसी प्रकार के वर्णन हमने पढ़े हैं, यह हमें भलीभाँति स्मरण है।

होमियोपैथी और वनौषधि

श्रीलक्ष्मीनारायण 'सरोज'

भारतवर्ष की भूमि रत्नप्रसू है। रत्नप्रसू का अर्थ केवल मनुष्य-रत्न से ही नहीं; वरन् उन मेधावी महाजनों से है, जिनकी मस्तिष्क-शक्ति के सम्मुख सारे संसार का शिर झुकता था। उन्हें संसार गुरुवत् मानता था और आज भी मानता है। किन्तु अत्यन्त खेद का विषय यह है, कि हम उन्हीं महाजनों की सन्तान होकर आज किंकर्तव्यविमूढ़ हो बैठे हैं और पाश्चात्य-देशीय विद्वान् जो उन्हें गुरुवत् मानते थे, अपनी शिक्षा के प्रभाव से जगत्श्रेष्ठ बनने का दावा कर रहे हैं। भारतीय चिकित्सा-विज्ञान आज विलुप्त होके कोने में पड़ा रो रहा है। पाश्चात्य-वैज्ञानिक अपनी प्रतिभा से मैदान में खड़े हँस रहे हैं। आज ऐसे ही हतभाग्य भारत के विद्याकेन्द्रस्थान काशी में "चरक-अनुसन्धान-भवन" को खुलते देख कर हमें अतीव हर्ष ही नहीं, वरन् महासागर के मध्य एकमात्र तिनके का सहारा प्रतीत हो रहा है। काशी के विधाता भगवान् भूतनाथ से हमारी सतत प्रार्थना है, कि वह संस्था को चिरजीवी करें, जिससे हमारी विलुप्त विद्याओं का पुनर्विकास हो।

होमियोपैथी चिकित्सा सदृश-सूत्र की भित्तिपर प्रतिष्ठित है। सदृश-सूत्र का अर्थ 'विषस्य विषमौषधम्" सूत्र से किया जा सकता है। किसी स्वस्थ मनुष्य के औषधि खाने पर उसके शरीर और मन पर जो उपद्रव या लक्षण प्रकट हों, फिर उसी औषधि के सेवन से वह उपद्रव दूर हो जायँ, इसे सदृश-चिकित्सा कहते हैं। जैसे 'वत्सनाभ' (एकोनाइट) नामक औषधि के सेवन से उसके मन में मृत्युभय, अस्थिरता और शरीर में घर्मशून्य-उत्ताप, प्रदाह, इत्यादि लक्षण प्रकाश पाते हैं, किसी रोगी में ठीक इस ऐसे लक्षण उपस्थित होने पर 'वत्सनाभ' एकोनाइट का सेवन करने से उक्त लक्षण वाले रोग आराम हो जाते हैं। इसीका नाम सदृश-विधान या होमियोपैथी चिकित्सा है।

अन्यान्य विद्वानों की तरह चिकित्सा-विज्ञान का भी आदि जन्मस्थान हमारा यही हतभाग्य भारतवर्ष है, यह गुणग्राही पाश्चात्य पण्डितों के अनुग्रह से आज निःसन्देह प्रमाणित हो चुका है। डाक्टर वाइज ने, सारे संसार के चिकित्साशास्त्र का अध्ययन कर, अपनी 'हिस्ट्री आफ मेडिसिन' नामक पुस्तक में लिखा है— "अन्यान्य देशों में चिकित्सा-शास्त्र की सृष्टि से अनेक शताब्द पूर्व भारतवर्ष में चिकित्सा-शास्त्र की यथेष्ट उन्नति हुई थी। भारतवर्ष से मिश्रदेशवासी, मिश्र से ग्रीस और रोम, इसके बाद वहाँ से अन्यान्य देशों में इसका जन्म हुआ।"

प्रोफेसर विलसन का कहना है—'ख्रीष्ट के जन्म से अनेक शतकपूर्व भारतवासी मेडिसिन और सर्जरी की विद्या में यथेष्ट सुदक्ष और व्युत्पन्न थे। न्यूयार्क के सुविख्यात डाक्टर पामर डेडली का कहना है— "ख्रीष्ट के जन्म से प्रायः सोलह सौ वर्ष पहले भारतवासी 'आपरेटिव मिडवाइफरी') अस्त्र की सहायता से प्रसव कराना) तथा डिम्बाशय-उत्तोलन (जो उन्नीसवीं शताब्दि के एक नूतन आविष्कार नाम से विख्यात है) प्रभृति प्रधान-प्रधान अस्त्र-चिकित्साओं में यथेष्ट उन्नति लाभ कर चुके थे।" वही भारतीय चिकित्सा-शास्त्र जो किसी देवता या देवतुल्य महापुरुष द्वारा उत्पन्न हुआ था, आज लुप्तप्राय है। जो कुछ भी हो, हमारा सदृश-सूत्र किस समय आविष्कृत और कैसे परिपुष्ट हुआ यही हमें जानना चाहिये।

वर्तमान समय में आयुर्वेद के जो समस्त प्राचीन ग्रन्थ मिलते हैं, उन्हें देखते हुए आर्यऋषिगण के चिकित्साविज्ञान की आलोचना के समय को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है।! पहला वैदिक-युग, दूसरा तान्त्रिकयुग। अर्थात् अग्निवेश (चरक) आदि के समय को वैदिकयुग और अन्त में नागार्जुन आदि के समय को तान्त्रिकयुग कहते हैं। वैदिकयुग में आर्यऋषियों ने निम्नोक्त ६ प्रकार के चिकित्सा-सूत्र का आविष्कार किया था (१) हेतु-विपरीत, (२) व्याधि-विपरीत, (३) हेतु-व्याधि-उभयविपरीत, (४) हेतु-सदृश, (५) व्याधि-सदृश, (६) हेतु-व्याधि-उभय-सदृश। §

जो औषधियाँ रोगोत्पत्ति के कारण के विपरीत गुणयुक्त हो रोग को आरोग्य करती हैं, उन्हें हेतुविपरीत औषधि कहते हैं; जैसे कफज-ज्वर में शुण्ठी। जो औषधियाँ रोगोत्पादक कारणों के साथ, विशेष सम्पर्कान्वित न होने पर भी, अपने प्रभाव से रोग को आरोग्य करती हैं, उसे व्याधिविपरीत औषधि कहते हैं; जैसे—खैर कुष्ठनाशक, हल्दी प्रमेहनाशक है। जो औषधियाँ रोग के कारण तथा रोग, दोनों को ही एक साथ प्रशमित करने में सक्षम हैं, उन्हें उभयविपरीत औषधि कहते हैं। जैसे वातजनित शोथरोग में दशमूल! फिर जो औषधियाँ हेतु में समधर्म्मी (समलक्षणवाली) होकर भी, रोग के आरोग्य करने में सक्षम हैं, उन्हें हेतु सदृश कहते हैं, जैसे मद्यपान-जनित रोग में मद्य।※ जिन औषधियों का लक्षण जैसा है, उन्हीं लक्षणों से आक्रान्त होके भी वह रोगनाश में सक्षम है, उसे व्याधिसदृश कहते हैं। जैसे उन्मादरोग में धतूरा, वमनरोग में मदनफल। † जो औषधियाँ, रोग के कारण और रोग दोनों में समानगुणवाली हैं, फिर वैसे ही रोग के प्रशमन में सक्षम है, उसे उभय सदृश औषधि कहते हैं, जैसे अग्नि-दग्धस्थान में अग्नि-सन्ताप या उष्णद्रव्य का लेप। ‡

इन प्रमाणों से यह प्रत्यक्ष है, कि वर्तमान समय में जितने प्रकार की चिकित्सा की पद्धतियाँ प्रचलित हैं और जिनके लिये पाश्चात्य विद्वान् अपने को बहुत बड़ा आविष्कारक समझते हैं, वह सब हमारे प्राचीन आर्य ऋषियों के ही प्रचारित सूत्र से उत्पन्न हैं। फिर भी हमें यह मानना पड़ेगा कि उस समय अर्थात् प्राचीन ऋषियों के समय में विपरीत चिकित्सा का ही प्राधान्य रहा। किन्तु उसके बाद तान्त्रिकयुग में व्याधिसदृश चिकित्सा का अधिक पक्षपात हुआ। तान्त्रिकयुग की चिकित्सा-प्रणाली की आलोचना करने से वह बहुत ही सुन्दर-रूप में दिखाई देती है। पाठक लोगों को इस लेख के प्रारम्भ में ही सदृशसूत्रकी व्याख्या बता दी गयी है। जैसे किसी स्वस्थ मनुष्य के धतूरा सेवन करने से, उसमें प्रगतता, वाचालता, प्रचण्डता, आदि उन्माद रोग के लक्षण दिखाई देते हैं, अतः उसी तरह के लक्षणवाले रोगी को यदि धतूरा (स्ट्रामोनियम) दिया जाय, तो रोग **अवश्य आरोग्य होगा**। अतः होमियोपैथी ठीक इसी सूत्र पर प्रतिष्ठित है। किन्तु किसी काल में इस क्रिया का अन्तर्ध्यान भी हो गया। इसे लोग भूल गये। विद्याप्रेमी पाश्चात्य पण्डितों ने फिर किस प्रकार चिकित्साशास्त्र का उत्थान किया, यह बताना आवश्यक है।

जो कुछ भी हो, मिश्रदेशवासियों ने भारतवर्ष से पहले पहल चिकित्सा सीखी। इसके साथ ही इतिहास

§ उपशमः पुनर्हेतुर्व्याधि विपरीतार्थकारिणाञ्चौषधान्न विहाराणामुपयोगः सुखानुबन्धः। —चरक-निदानस्थान।

※ मद्योत्थानाञ्च रोगाणां मद्यमेव प्रशोधकम्। —चरक

† श्वेतोन्मत्तोत्तरदिङ्मूलसिद्धस्तु पायसः। गुड़ाज्यसंयुतो हन्ति सर्व्वोन्मादांस्तु दोषजान्। —चक्रदत्त।

‡ कुष्ठस्याग्निप्रतपनं कायमुष्णं तथौषधम्। —सुश्रुत

देखने से मालूम होता है, कि मिश्रदेशवासियों को केवल प्राचीन आर्यऋषियों के ही कुछ ग्रन्थ मिले थे, तान्त्रिक युग के नहीं। इस प्रकार पाश्चात्यजगत् उन्हीं के आधार पर अपने नये सूत्रों का आविष्कार करने लगा। प्रथमतः हियेब्रेटीस ने लिखा :—"शरीरस्थ रस की अधिकता और विकृति ही रोग का मूल है और उसका निकालना ही रोगशान्ति का एक मात्र उपाय है। अतः विकृत रस का निकालना ही चिकित्सा करना है।" इस सूत्र पर विरेचक, मूत्रकारक, घर्म्मकारक प्रभृति औषधियों का आविष्कार हुआ।

इसके बाद डाक्टर गैलन ने क।—'शरीर का रस ही रोग का कारण है। किन्तु केवल उसे निकालने ही से नहीं वरन् विकृत रसके विपरीत कार्य करने से रोग आराम होंगे।" अतः इससे रक्तमोक्षण, सेक, ताप, बरफ प्रयोग आदि की सृष्टि हुई। डाक्टर एबारनिथो ने कहा—"देह की अवस्था में परिवर्तन की भी आवश्यकता है, अतएव परिवर्तनशील औषधियों का व्यवहार होना चाहिये।" इसपर 'आयोडाइड' 'मर्करी' (पारा) आदि दवाएँ तैयार की गयीं। इसके उपरान्त दुर्बलता ही रोग का घर माना गया और उसके निवारणार्थ टानिक, स्टिमुलेण्ट (उत्तेजक) आदि औषधियों का प्रयोग किया गया। इस प्रकार क्रमशः रूप बदलता हुआ वर्तमान् समय का एलोपैथी इलाज तैयार हुआ। यहाँ फिर लिख देना चाहिये, कि इस आयोजन में व्याधि-सदृश सूत्र को लोग बिलकुल भूल गये।

जर्मनी के प्रख्यात डाक्टर महात्मा सैमुएल हेनीमेन साहब एलोपैथी के बहुत बड़े धुरन्धर विद्वान् थे। उन्होंने अपने जीवन काल में देखा कि एलोपैथी इलाज किसी दृढ़ सूत्र की भित्ति पर अवलम्बित नहीं। इसपर वह खिन्न हो चिकित्सा व्यापार छोड़ नूतन आविष्कार की खोज में लग गये। अनेक वर्षों के मनन के उपरान्त उन्होंने सदृश सूत्र का पुनरुत्थान किया। उन्होंने देखा, कि सिनकोना के फल के खाने से कम्पज्वर उत्पन्न होता है। अतः उन्होंने उसे ही रोग पर दे उस रोग को आराम किया। यहीं से सदृश सूत्र पुनरारम्भ हुआ।

उन्होंने अपनी योग्यता के सहारे अपने जीवन में मामूली वनौषधियों से अनेक होमियोपैथी दवाएँ तैयार कर उनके गुणों को असाधारण पाया। उनके बाद उनके अन्य शिष्यों ने इसे बढ़ाया और आज यह सदृश-सूत्र की प्राचीनतम भित्तिपर वनौषधियों से तैयार की गयी होमियोपैथी इलाज की इमारत सुदृढ़ता से लोगों का उपकार कर रही है। यही होमियोपैथी और वनौषधि का सम्बन्धयुक्त प्राचीन इतिहास है। वनौषधियों से होमियोपैथी किस प्रकार तैयार होती है और उसका गुण किस तरह का होता है, इसपर फिर कभी प्रकाश डाला जायगा।

मिस्टर मच्छरमल की राम-कहानी

साहित्यरत्न श्रीबालमुकुन्द शर्म्मा, विशारद

मुझे आप लोग अपना शत्रु क्यों समझते हैं—यह पूछने का मैं साहस नहीं करूँगा; क्योंकि उससे शायद मैं कुछ घमण्डी समझा जाऊँ।

आपने मेरे पुनीत दर्शन तो अवश्य ही किये होंगे, पर आपमें से बहुतेरों को शायद यह न मालूम होगा कि मेरा दौलतखाना किधर है, पैदाइश किस तरह होती है, मेरी औलाद किस तरह गुजर करती और पलती है; मैं अपना हथियार किस सफाई से चलाता और रखता हूँ? ऐसा तो शायद ही कोई माई का लाल होगा, जिसने मेरे इस हथियार की चोट वर्दाश्त न की हो!

मेरा शरीर कुछ लम्बा और बेलन सरीखा गोल होता है। विश्राम करते समय, आप लोग अपने हाथ पैर पसार देते हैं, पर मैं सोते समय एक पङ्ख के ऊपर दूसरा पङ्ख रख लेता हूँ। मेरी आँखें बड़ी बड़ी, सुडौल और सुन्दर हैं। ईश्वर ने मुझे कटोरे सी बड़ी बड़ी आँखें प्रदान की हैं। सचमुच वे इतनी बड़ी हैं कि मेरा सारा शिर ढाँके रहती हैं। मेरी आँखों के बड़प्पन के मारे, आप लोग मेरे शिर को शायद देख ही न सकेंगे। कितने ही लोगों को तो शायद यह भ्रम हो जावेगा कि यह शिर है वा आँख, अथवा आँख है कि शिर, अथवा आँख में शिर है कि शिर में आँख है।

मेरा धड़ और भी अद्भुत है। खूबी यह है कि मेरे धड़ का नामान्तर डङ्क है। धड़ का यह पर्य्याय वा अर्थ मेरी खास अपनी डिक्शनरी में ही मिल सकता है। संक्षेपतः साफ बात तो यों है कि मेरा डङ्क ही मेरा धड़ वा धड़ ही डङ्क है। इसी डङ्क को आपके शरीर में चुभाकर मैं आपके सुस्वादु एवं फेन रहित रक्त का आचमन करता हूँ। सूक्ष्मदर्शक यन्त्र की सहायता से देखने पर आप लोगों को यह धड़ सीधा और बेलन के आकार का, जिसके एक ओर घुण्डी सी लगी हुई है, दिखलाई पड़ेगा। यही घुण्डी मेरा शिर अथवा आँख है। यही घुण्डी मेरे हथियार के (डंक) रखने की थैली है। जिस तरह आप लोग तलवार को म्यान में, तम्बाकू को डिब्बी में अथवा कलम को कलमदान में रखते हैं, उसी तरह मैं अपने डङ्कों को शिर रूपी थैले में रखता हूँ।

विशेषता यह है कि मेरे डङ्क, जिनकी संख्या छः होती है, इस थैले के बाहर आते और फिर भीतर चले जाते हैं। ये डङ्क पोले मगर तीर के समान तीखे होते हैं। जब मुझे रक्तपान की इच्छा होती है, तब इन डङ्कों को धीरे से निकाल कर आपके शरीर के कोमल स्थान में चुभा देता हूँ। चुभाते ही मेरे डङ्कों के शिरों में से कुछ विषैला द्रव पदार्थ निकलता और आपके रक्त में प्रवेश कर जाता है। तभी आपको मेरे डङ्क मारने से उद्वेग मालूम पड़ता है और आप लोग चौकन्ने हो जाते हैं।

मेरा यह डङ्क इतनी तेजी और सफाई से चलता है कि उतनी तेजी से जगत्प्रसिद्ध सिङ्गर कम्पनी की मशीन की सुई भी न चलती होगी। मेरे लिये इतना ही कहना काफी होगा कि मोटी से मोटी धोती पहनने पर भी मैं आपका रस चूस ही लेता हूँ।

बहुतों को मेरा डङ्क मारना बहुत बुरा लगता है। लगना भी चाहिये। इसीमें मैं अपनी प्रशंसा और बहादुरी समझता हूँ। भला, इसी बहाने आप

लोग नाम तो स्मरण कर लेते हैं।

पर सबसे बड़े दुःख की बात यह है कि यह संसार अनित्य है, जीवन अनित्य है। जिसे आज देखता हूँ, वह कल नहीं दीखता। मेरी भी ठीक यही दशा है। केवल पन्द्रह बीस दिन ही मेरे जीवन की परमावधि है। इतनी क्षणभङ्गुर अवस्था में हो मैं अपनी उन्नति करता, नाम कमाता और फिर समाधिस्थ हो जाता हूँ।

मेरी श्रीमती जी का जीवन कुछ विशेष दुःख-दायी होता है। सन्तानोत्पत्ति के पवित्र उद्देश्य से ही वे अवतार ग्रहण करती हैं और इसकी पूर्त्ति होते ही वे बेचारी अपना जीवन सम्बरण कर लेती हैं। पन्द्रह-बीस रोज के बाद वे अण्डे देती हैं और अण्डे देते ही इस संसार से प्रयाण कर जाती हैं। वे इतनी सुकोमल कामिनी हैं कि प्रसव की दुस्तर पीड़ा सहन न कर सकने के कारण ही उनकी मृत्यु हो जाती है।

मेरी श्रीमती जी के अण्डे अनन्त एवं असंख्य होते हैं। वे इतने सूक्ष्म होते हैं कि सूक्ष्मदर्शक यन्त्र की सहायता ही से दृष्टिगोचर होते हैं इस प्रकार देखने से वे मधुकोष (मधुमक्खी के छत्ते) के समान दिखते हैं। एक समूह में ५० से लेकर १५० तक मेम्बर रहते हैं। उनकी बैठक बहुधा गँदले पानी के किनारे कूड़े-कचरे से भरे गन्दे स्थान में हुआ करती है।

बरसात के दिनों में मुझे बड़ा आनन्द प्राप्त होता है। पानी बरस रहा है। लम्बी-लम्बी हरी-भरी घास लहलहा रही है। मैं अपने राजमहलों में झूला झूलता या वंशी की ध्वनि के साथ मलार राग छेड़ता रहता हूँ। सचमुच यही समय मेरी वृद्धि का होता है।

आपके मृत्यु के ठेकेदार-डाक्टरों का कहना है कि मैं ही मलेरिया बुखार फैलाता हूँ। यह शिकायत-यह लाञ्छन-किसी अंश में अवश्य सत्य है; किन्तु सर्वथा नहीं। मैं यदि चाहूँ तो आपके डाक्टर पर मानहानि का दावा दायर कर सकता हूं। किन्तु क्षमा ही सज्जनों का श्रेष्ठ आभूषण है, इसीलिये मैं चुप्पी साध जाता हूं।

आप लोग मुझे 'बुखार का मूल कारण' बतलाते हैं, परन्तु हमारी जाति में सबके सब ऐसे नहीं होते। हम लोगों में एक विशेष जाति होती है, जिसके रक्त में ज्वर के कीटाणु पाये जाते हैं। इस जाति के मच्छर जिस मनुष्य पर डङ्क मारते हैं, उसके खून में उन कीटाणुओं को छोड़ देते हैं। वे विषैले कीटाणु सारे शरीर में व्याप्त हो जाते और विष-वमन द्वारा बुखार पैदा कर देते हैं। इसी प्रकार जो मच्छर रोगी मनुष्य के रक्त का पान करेगा, उस मच्छर के शरीर में रोग के कीटाणु भर जावेंगे और उससे जो अण्डे-बच्चे पैदा होंगे, उनमें भी वही असर पाया जावेगा।

दुनियाँ में बड़े बड़े राजा-महाराजा और वीर-बहादुर भी मुझसे डरते हैं; पर मैं मिट्टी के तेल से बहुत डरता हूं। गन्दे गढ़े, नाबदान और नालियों में मिट्टी का तेल छिड़कने से मेरी जाति का सर्वनाश उपस्थित हो जाता है। इस तेल की जलन के मारे मेरे अण्डे कुसमय में ही फूट कर नष्ट हो जाते हैं। यह मेरे लिए मलेरिया ही है।

इसके अतिरिक्त बहुतेरे शौकीन बाबू लोग जापान इत्यादि की बनी हुई तरह तरह की धूप बत्तियाँ अपने कमरों में सुलगा कर मुझे मारना या भगाना चाहते हैं। कुछ लोग गुग्गुल, लोबान आदि सुलगा कर मुझे नष्ट करने की चेष्टा किया करते हैं। खेतिहर लोग अपने झोपड़ों में सूखे उपले (गोहरी) सुलगा कर ही मुझसे पिण्ड छुड़ा लिया करते हैं।

अच्छा, अब तो मैं मुकाबले में डट गया हूँ। देखना है कि आपकी बुद्धि मुझे परास्त करती है या मैं ही आपको लाचार कर छोड़ता हूँ।

वनस्पतियों का प्रभाव

प्रोफेसर–बालकराम शुक्ल, आयुर्वेदाचार्य,
एम्० डी० एच्०

आज बीसवीं शताब्दि में पाश्चात्य वैज्ञानिकों की विजय वैजयन्ती, अणुवीक्षणयन्त्र (Microscop) एक्सकिरण प्रभृति आवश्यकीय उपकरणों की सहायता से फहरा रही है उनके पास सब उपकरण विद्यमान हैं। इसलिये वे औषधियों के गुण (Pharmacology) प्रभाव उनका रासायनिक सङ्गठन और उनमें रहनेवाले सर्वोत्तम उपकारी अवयवों इत्यादि का भलीभाँति परिचय प्राप्तकर उनसे पूर्ण लाभ उठा रहे हैं। इसी भारत से कच्ची औषधियाँ विदेशों में जाती हैं और वहाँ से अपना रूप बदलकर कीमत में दशगुनी होकर पुनः हमारे यहाँ आजाती हैं, हमलोग उन्हें देवदुर्लभ अमृत समझकर पान करते हैं यह हमारा दुर्भाग्य नहीं तो और क्या है?

यहाँ भारतीय चिकित्सक-मण्डल का मतभेद ही दूर नहीं होता निखिल भारतवर्षीय-आयुर्वेद-महामण्डल का अधिवेशन २४ वर्षों से प्रतिवर्ष होता है और उसमें प्रतिवार सन्दिग्ध औषधि-निर्णायक समिति का निर्माण होता है फिर वह समिति कार्यालय में सालभर बन्द रहती है और पुनः दूसरे वर्ष में प्रस्ताव के रूप में प्रकट होती है। यह अभिनय नहीं तो क्या है? इससे सुधार की कितनी आशा की जा सकती है; यह स्वयं अनुभव करने का विषय है।

हमारी अकर्मण्यता, आलस्य अनुत्साह एवं उपकरणाभाव से आज यह दुर्दशा हो रही है कि कोई वैद्य दिव्यगुण-विशिष्ट ब्राह्मी को जलनिम्ब मानता है तो कोई रास्ना को मरोड़ फली, वा चूरणहार अथवा मालधन मानता है। कोई दूसरा वर्ग मालकाङ्गनी को लता पुटकी, उपोदिका को पुदीना और क्षीरिणी को स्वर्ण-क्षीरी कहा करता है। इस प्रकार के सहस्रों उदाहरण हैं, इसका कारण यही है कि हमारे सङ्गठन में तत्व नहीं, आडम्बर मात्र है। ऐसी स्थिति में चरक अनुसन्धान-भवन ने वनौषधि निकाल कर बड़ा काम किया है आशा है, यह आगे चलकर वैद्यों की पथ प्रदर्शिका बनेगी।

अब हमें वनौषधियों के प्रभाव के विषय में कुछ कहना है। वनौषधियों में "प्रभाव" ही एक ऐसा महत्व पूर्ण पदार्थ है जिसने आज बीसवीं सदी के वैज्ञानिकों को आश्चर्य-चकित कर दिया है। उपकरणहीन आयुर्वेद में प्रभाव का जितना सुन्दर वर्णन है उस मूल पर लाख कोशिश करने पर भी आज का विज्ञान नहीं पहुँच सका है। प्रभाव ही आयुर्वेद की वैज्ञानिकता को सिद्ध कर आधुनिक विज्ञानवाद का घमण्ड चूर्ण कर देता है।

उदाहरणार्थ—चित्रक का रस कटु और विपाक भी कटु होता है एवं वीर्य में उष्ण होता है। इतने ही गुण जमाल गोटा में भी रहते हैं, किन्तु जमाल गोटा अपने विशिष्ट प्रभाव से विरेचन कराता है। यह विरेचन क्यों करता है? पाश्चात्य विद्वान् इसका उत्तर न देकर कहते हैं कि जयपाल आन्त्र मण्डल में एक विशिष्ट सङ्कोच-प्रसारात्मक क्रिया उत्पन्न करता है इससे मल इत्यादि बाहर निकल आते हैं। ऐसा क्यों होता है? इसका कुछ उत्तर नहीं है। यहाँ कई सहस्र वर्षों पहले ही इस विशिष्ट कर्म को प्रभाव मान रखा है। इसी प्रकार उपर्युक्तगुण होते हुए भी चित्रक दीपन और पाचन होता है विरेचक नहीं; यह भी उसका प्रभाव ही है। इसी प्रकार मधुक के ही समान गुण द्राक्षा में भी होते हैं किन्तु द्राक्षा विरेचक और मधुक ग्राहक होता है। घृत और दुग्ध में समान गुण रहते हुए भी घृत अग्निदीपक

होता है और दुग्ध अग्नि दीपन नहीं करता।

आज हैजा इत्यादि रोगों में उन रोगों के उत्पन्न करनेवाले कुछ जीवाणु ही सूचिकाभरण द्वारा रक्त में प्रविष्ट कर दिये जाते हैं और इस प्रकार शरीर की रोग क्षमता (Imunity) बढ़ायी जाती है! इसका भी कारण हमारे यहाँ के आचार्यों ने लिखा है 'विषं विषघ्नमित्याहुः प्रभावस्तत्र कारणम्।'

भिन्न भिन्न प्रकार के नग और मणियाँ धारण करने से जो रोग नाशक और विष नाशक शक्ति उत्पन्न होती है उसमें भी प्रभाव ही कारण है। कारणवादी यहाँ ठण्ढे पड़ जाते हैं।

मणीनां धारणीयानां कर्म यद्विविधात्मकम्।
तत् प्रभावकृतं तेषां प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते॥
—चरक, सूत्रस्थान, २६

इसी प्रकार तीक्ष्ण और रूक्ष गुण कुचला एवं अफीम दोनों में है किन्तु कुचले का गुण निद्रानाशक और अहिफेन का निद्राजनक है। यह सब प्रभाव का ही प्रताप है।

द्रव्यों में पाँच शक्तियाँ रहती हैं रस, गुण, वीर्य, विपाक और प्रभाव किन्तु इनमें प्रथम चारों शक्तियों पर अपना अधिकार जमाने वाला प्रभाव ही है। जैसा चरक ने लिखा है "रसं विपाकस्तौवीर्यं प्रभावस्तानवोऽति" एक नहीं सहस्रों ऐसी औषधियाँ हैं जिनका सब प्रत्यक्ष कारण किसी अन्य गुण का अनुमान कराता है; किन्तु शरीर पर उनका कोई अन्य लक्षण प्रकट होता है इसका कारण क्या है? एक मात्र प्रभाव।

आयुर्वेद का मूल अथर्ववेद में औषधियों के प्रभाव का बड़ा ही विचित्र वर्णन आता है जैसे रात्रि में उत्पन्न होनेवाली दारुहल्दी, भृङ्गराज, इन्द्रायन और नीली अपने प्रभाव से असाध्य श्वेतकुष्ठ को नष्ट करती है।

नक्तं जातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च
इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत्॥
—अ० का० सू० २३, मंत्र १

रविवार को सहदेवी की जड़ शिखा में बाँधने से ज्वर छूट जाता है, मङ्गलवार को स्नानकर गीले कपड़े पहने हुए अपामार्ग की जड़ पानी से पीस, छानकर पीलेने से दमारोग दूर हो जाता है इसके ऊपर दूध और चीवड़ा पथ्य है यह सब प्रभाव की करामात है।

अन्त में मैं उन प्रत्यक्ष कारणवादी वैज्ञानिकों और उन्हीं के अनुयायी भारतीय नवयुवकों से यह निवेदन करता हूँ कि वे अपने प्राचीन आचार्यों के निम्नलिखित वाक्यों पर पूर्ण विचार कर केवल कारण वादी ही न बनें किन्तु प्रयोग कर उन औषधियों के विशेष प्रभाव से अपना और अपने देश का कल्याण कर यश के भागी बनें। देखिये महर्षि धन्वतरि कहते हैं—

प्रत्यक्ष-लक्षण-फला प्रसिद्धाश्च स्वभावतः।
नोषधीर्हेतुभिर्विद्वान् परीक्षेत कथञ्चन॥
सहस्राण्यपि हेतूनां नाम्बष्ठादिर्विरेचयेत्।
तस्मात्तिष्ठेत्तु मतिमानागमेन तु हेतुषु॥
—सुश्रुत

वाग्भट ने भी कहा है कि रस-वीर्य-प्रभृति के तुल्य होने पर भी जो कोई विशिष्ट कार्य होता है वह प्रभाव कहलाता है।

रसादिसाम्ये यत् कर्म विशिष्टं तत् प्रभावजम्।

अस्तु इन वाक्यों से यह सिद्ध होता है कि आचार्यों ने पहले कारण के अन्वेषण के लिये पूर्ण परिश्रम किया था किन्तु उन्हें प्रभाव के सिवा और कुछ दूसरा कारण न मिला। अतः वनौषधि के पाठक उन विशिष्ट वनौषधियों को, जिनमें कुछ विशेष प्रभाव विद्यमान रहता है उनका अन्वेषण और प्रचार कर देश का कल्याण करें।

वनस्पतियों का प्रभाव

प्रोफेसर—बालकराम शुक्ल, आयुर्वेदाचार्य,
एम्० डी० एच्०

आज बीसवीं शताब्दि में पाश्चात्य वैज्ञानिकों की विजय वैजयन्ती, अणुवीक्षणयन्त्र (Microscop) एक्सकिरण प्रभृति आवश्यकीय उपकरणों की सहायता से फहरा रही है उनके पास सब उपकरण विद्यमान हैं। इसलिये वे औषधियों के गुण (Pharmacology) प्रभाव उनका रासायनिक सङ्गठन और उनमें रहनेवाले सर्वोत्तम उपकारी अवयवों इत्यादि का भलीभाँति परिचय प्राप्तकर उनसे पूर्ण लाभ उठा रहे हैं। इसी भारत से कच्ची औषधियाँ विदेशों में जाती हैं और वहाँ से अपना रूप बदलकर कीमत में दशगुनी होकर पुनः हमारे यहाँ आजाती हैं, हमलोग उन्हें देवदुर्लभ अमृत समझकर पान करते हैं यह हमारा दुर्भाग्य नहीं तो और क्या है ?

यहाँ भारतीय चिकित्सक-मण्डल का मतभेद ही दूर नहीं होता निखिल भारतवर्षीय-आयुर्वेद-महामण्डल का अधिवेशन २४ वर्षों से प्रतिवर्ष होता है और उसमें प्रतिवार सन्दिग्ध औषधि-निर्णायक समिति का निर्माण होता है फिर वह समिति कार्यालय में सालभर बन्द रहती है और पुनः दूसरे वर्ष में प्रस्ताव के रूप में प्रकट होती है। यह अभिनय नहीं तो क्या है ? इससे सुधार की कितनी आशा की जा सकती है; यह स्वयं अनुभव करने का विषय है।

हमारी अकर्मण्यता, आलस्य अनुत्साह एवं उपकरणाभाव से आज यह दुर्दशा हो रही है कि कोई वैद्य दिव्यगुण-विशिष्ट ब्राह्मी को जलनिम्ब मानता है तो कोई रास्ना को मरोड़ फली, वा चूरणहार अथवा मालधन मानता है। कोई दूसरा वर्ग मालकाङ्गनी को लता पुटकी, उपोदिका को पुदीना और चीरिणी को स्वर्ण-चीरी कहा करता है। इस प्रकार के सहस्रों उदाहरण हैं, इसका कारण यही है कि हमारे सङ्गठन में तत्व नहीं, आडम्बर मात्र है। ऐसी स्थिति में चरक अनुसन्धान-भवन ने वनौषधि निकाल कर बड़ा काम किया है आशा है, यह आगे चलकर वैद्यों की पथ प्रदर्शिका बनेगी।

अब हमें वनौषधियों के प्रभाव के विषय में कुछ कहना है। वनौषधियों में "प्रभाव" ही एक ऐसा महत्व पूर्ण पदार्थ है जिसने आज बीसवीं सदी के वैज्ञानिकों को आश्चर्य-चकित कर दिया है। उपकरणहीन आयुर्वेद में प्रभाव का जितना सुन्दर वर्णन है उस मूल पर लाख कोशिश करने पर भी आज का विज्ञान नहीं पहुँच सका है। प्रभाव ही आयुर्वेद की वैज्ञानिकता को सिद्ध कर आधुनिक विज्ञानवाद का घमण्ड चूर्ण कर देता है।

उदाहरणार्थ—चित्रक का रस कटु और विपाक भी कटु होता है एवं वीर्य में उष्ण होता है। इतने ही गुण जमाल गोटा में भी रहते हैं, किन्तु जमाल गोटा अपने विशिष्ट प्रभाव से विरेचन कराता है। यह विरेचन क्यों करता है ? पाश्चात्य विद्वान् इसका उत्तर न देकर कहते हैं. कि जयपाल आन्त्र मण्डल में एक विशिष्ट सङ्कोच-प्रसारात्मक क्रिया उत्पन्न करता है इससे मल इत्यादि बाहर निकल आते हैं। ऐसा क्यों होता है ? इसका कुछ उत्तर नहीं है। यहाँ कई सहस्र वर्षों पहले ही इस विशिष्ट कर्म को प्रभाव मान रखा है। इसी प्रकार उपर्युक्तगुण होते हुए भी चित्रक दीपन और पाचन होता है विरेचक नहीं; यह भी उसका प्रभाव ही है। इसी प्रकार मधुक के ही समान गुण द्राक्षा में भी होते हैं किन्तु द्राक्षा विरेचक और मधुक ग्राहक होता है। घृत और दुग्ध में समान गुण रहते हुए भी घृत अग्निदीपक

होता है और दुग्ध अग्नि दीपन नहीं करता।

आज हैजा इत्यादि रोगों में उन रोगों के उत्पन्न करनेवाले कुछ जीवाणु ही सूचिकाभरण द्वारा रक्त में प्रविष्ट कर दिये जाते हैं और इस प्रकार शरीर की रोग क्षमता (Imunity) बढ़ायी जाती है! इसका भी कारण हमारे यहाँ के आचार्यों ने लिखा है 'विषं विषघ्नमित्याहुः प्रभावस्तत्र कारणम्।'

भिन्न भिन्न प्रकार के नग और मणियाँ धारण करने से जो रोग नाशक और विष नाशक शक्ति उत्पन्न होती है उसमें भी प्रभाव ही कारण है। कारणवादी यहाँ ठण्ढे पड़ जाते हैं।

मणीनां धारणीयानां कर्म यद्विविधात्मकम्।
तत् प्रभावकृतं तेषां प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते॥

—चरक, सूत्रस्थान, २६

इसी प्रकार तीक्ष्ण और रूक्ष गुण कुचला एवं अफीम दोनों में है किन्तु कुचले का गुण निद्रानाशक और अहिफेन का निद्राजनक है। यह सब प्रभाव का ही प्रताप है।

द्रव्यों में पाँच शक्तियाँ रहती हैं रस, गुण, वीर्य, विपाक और प्रभाव किन्तु इनमें प्रथम चारों शक्तियों पर अपना अधिकार जमाने वाला प्रभाव ही है। जैसा चरक ने लिखा है "रसं विपाकस्तौवीर्यं प्रभावस्तानवोऽति" एक नहीं सहस्रों ऐसी औषधियाँ हैं जिनका सब प्रत्यक्ष कारण किसी अन्य गुण का अनुमान कराता है; किन्तु शरीर पर उनका कोई अन्य लक्षण प्रकट होता है इसका कारण क्या है? एक मात्र प्रभाव।

आयुर्वेद का मूल अथर्ववेद में औषधियों के प्रभाव का बड़ा ही विचित्र वर्णन आता है जैसे- रात्रि में उत्पन्न होनेवाली दारुहल्दी, भृङ्गराज, इन्द्रायन और नीली अपने प्रभाव से असाध्य श्वेतकुष्ठ को नष्ट करती है।

नक्तं जातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च
इदं रजनि रञ्जय किलासं पलितं च यत्॥

—अ० का० सू० २३, मंत्र १

रविवार को सहदेवी की जड़ शिखा में बाँधने से ज्वर छूट जाता है, मङ्गलवार को स्नानकर गीले कपड़े पहने हुए अपामार्ग की जड़ पानी से पीस, छानकर पीलेने से दमारोग दूर हो जाता है इसके ऊपर दूध और चीवड़ा पथ्य है यह सब प्रभाव की करामात है।

अन्त में मैं उन प्रत्यक्ष कारणवादी वैज्ञानिकों और उन्हीं के अनुयायी भारतीय नवयुवकों से यह निवेदन करता हूँ कि वे अपने प्राचीन आचार्यों के निम्नलिखित वाक्यों पर पूर्ण विचार कर केवल कारण वादी ही न बनें किन्तु प्रयोग कर उन औषधियों के विशेष प्रभाव से अपना और अपने देश का कल्याण कर यश के भागी बनें। देखिये महर्षि धन्वतरि कहते हैं-

प्रत्यक्ष-लक्षण-फला प्रसिद्धाश्च स्वभावतः।
नोषधीर्हेतुभिर्विद्वान् परीक्षेत कथञ्चन॥
सहस्राण्यपि हेतूनां नाम्वष्ठादिर्विरेचयेत्।
तस्मात्तिष्ठेत्तु मतिमानागमेन तु हेतुषु॥

—सुश्रुत

वाग्भट ने भी कहा है कि रस-वीर्य-प्रभृति के तुल्य होने पर भी जो कोई विशिष्ट कार्य होता है वह प्रभाव कहलाता है।

रसादिसाम्ये यत् कर्म विशिष्टं तत् प्रभावजम्।

अस्तु इन वाक्यों से यह सिद्ध होता है कि आचार्यों ने पहले कारण के अन्वेषण के लिये पूर्ण परिश्रम किया था किन्तु उन्हें प्रभाव के सिवा और कुछ दूसरा कारण न मिला। अतः वनौषधि के पाठक उन विशिष्ट वनौषधियों को, जिनमें कुछ विशेष प्रभाव विद्यमान रहता है उनका अन्वेषण और प्रचार कर देश का कल्याण करें।

रस और वनस्पति

श्रीयुत् हनूमानप्रसाद, वैद्य-शास्त्री

यह एक बड़ा विवादग्रस्त विषय हो रहा है कि रस-चिकित्सोपयोगी है अथवा वनस्पति ! किन्तु इन मतभेदों के ऊपर पूर्ण विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि रस-चिकित्सा की अपेक्षा वनस्पति-चिकित्सा विशेष उपयोगिनी है । उपयोगिता की दृष्टि से वनस्पति चिकित्सा को ही सर्व-प्रथम स्थान मिलेगा; परन्तु शीघ्र और सद्यःफल-दायिनी चिकित्सा की दृष्टि से रस-चिकित्सा को प्रथम स्थान मिलेगा । इस प्रकार ये दोनों चिकित्साएँ दो दृष्टियों से दो विषय के लिए उपयोगी हैं। यदि प्राचीन संहिता-ग्रन्थों को देखा जाय, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वनस्पति-चिकित्सा ही सब से अधिक प्राचीन और आदि चिकित्सा है। प्राचीन भारत में चिकित्सक लोग वनस्पति द्वारा ही चिकित्सा किया करते थे। धीरे धीरे सभ्यता के विकास के साथ-साथ चिकित्सा-पद्धति का भी विकास हुआ और अनेक शोध के पश्चात् रस-चिकित्सा प्रादुर्भूत हुई।

आसुरी मानवी दैवी चिकित्सा त्रिविधा मता ।
शस्त्रैः कषायैर्होमाद्यैः क्रमेणान्त्या सुपूजिता ॥

अर्थात् प्राचीन भारत में चिकित्सा तीन प्रकार की होती थी। जो चिकित्सा शस्त्र के द्वारा की जाती थी, उसे आसुरी चिकित्सा कहते थे। जो चिकित्सा कषाय आदि से की जाती थी, उसे मानवी चिकित्सा कहते थे; और शीतलादिक व्याधि-विशेष में जो चिकित्सा हवनादिक से सम्पन्न होती थी, उसे दैवी चिकित्सा कहते थे। इन तीनों में से आज भी शस्त्र और औषध चिकित्साएँ सम्पन्न होती हैं; किन्तु अन्तिम दैवी-चिकित्सा तो कहीं कहीं ही दीख पड़ती है।

मानवी चिकित्सा का कषाय-द्वारा जो उल्लेख शास्त्रकारों ने किया है, इससे स्पष्ट हो जाता है, उस समय अर्थात् प्राचीन भारत में कषाय-चिकित्सा ही प्रधान थी। कुछ लोग सन्देह कर सकते हैं कि यदि प्राचीन समय में सम्पूर्ण रोगों की चिकित्सा कषाय-द्वारा ही होती थी तो नव-ज्वर के प्रसङ्ग में 'कषायेणाकुलीभूता दोषा जेतुं सुदुष्कराः' का उल्लेख क्यों किया ? इस विषय में केवल इतना ही पर्याप्त है कि श्लोक में कषाय शब्द का उल्लेख इसलिए किया है कि अन्य सम्पूर्ण रोगों में तो कषायादि का विधान है ही; एक-ज्वर रोग के लिये उसकी प्रधानता क्यों नष्ट की जाय ! अतएव केवल कषाय कहकर चुप्पी साध गए। उस समय भी कषाय, कल्क, पाक, अवलेह, चूर्ण, वटी, घृत और फाण्टादि द्वारा चिकित्सा की जाती थी।

जिस प्रकार रस-चिकित्सा अज्ञानतावश हानि पहुँचा सकती है, उस प्रकार शुद्ध वनस्पति-चिकित्सा हानि नहीं पहुँचा सकती । जिस चिकित्सा में जितना ही शोध और परिश्रम हुआ है, वह उतनी ही अधिक सरल और उपयोगी हुई है। वनस्पति-चिकित्सा में अति प्राचीन अथवा आदि काल से परिश्रम हुआ है अतएव वह रसकी अपेक्षा अत्यधिक सुगम हो गई है और रस-चिकित्सा बाद की है और उसमें उतना अधिक परिश्रम और शोध नहीं हुआ; इसलिए वह वनस्पति की अपेक्षा अधिक दुरूह और कष्टसाध्य है।

जिस प्रकार का शोध वनस्पति-चिकित्सा के

लिए उस समय हुआ था, यदि वैसा अथवा उसका शतांश शोध भी इस समय हो, तो यह वनस्पति-चिकित्सा संसार की अन्य सम्पूर्ण चिकित्साओं की एकमात्र मुकुट-मणि बन जाय। किन्तु राज्याश्रय न होने के कारण पूर्व में जितना शोध हो चुका है, वह भी धीरे-धीरे नष्ट होता जा रहा है। आज जिस प्रकार देशी-चिकित्सा के साथ अन्याय हो रहा है, उससे तो इस चिकित्सा का अस्तित्व ही नष्ट हो जाना चाहिए था; किन्तु वह अपनी अमूल्यता के कारण ही आज भी पूर्णरूप से जीवित है। यदि वनस्पति-चिकित्सा न होती, केवल रस-चिकित्सा का ही प्रधान्य होता, तो आज सम्भवतः बड़े-बड़े लोगों के प्रासादों एवं राज्य-भवनों में ही यह टिमटिमाती होती।

यदि एक दृष्टि से देखा जाय, तो आज भी रस-चिकित्सा का प्रभाव केवल वनस्पतियों के कारण ही दीख पड़ता है। कोई भी ऐसी रसौषधि नहीं हैं, जिसमें किसी न किसी वनस्पति के स्वरस अथवा उसके किसी अङ्ग-उपाङ्ग की आवश्यकता न पड़ती हो। बल्कि यों कहना चाहिए कि उसके बिना वे किसी प्रकार भी तैयार हो ही नहीं सकतीं। यदि दुराग्रह वश किसी प्रकार तैयार कर ही ली जाँय, तो वह निर्गुण, हीनगुण अथवा हानिकारक सिद्ध होंगी। ऐसी दशा में यह कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता कि रस-चिकित्सा श्रेष्ठ है, और वनस्पति अश्रेष्ठ; बल्कि अब तो यह मानना पड़ेगा कि प्रधानचिकित्सा-पद्धति वनस्पति ही है।

चरक-संहिता में जिन आमलकी रसायनादिकों द्वारा कायाकल्प तक का प्रयोग बताया गया है, और प्राचीन समय में वह कार्य रूप में परिणत भी किया जाता था, आज उस टक्कर की कोई भी रसौषधि नहीं दीख पड़ती। कुछ हीन मस्तिष्क आज उस कायाकल्प को पढ़कर निरा हास्य समझते होंगे; परन्तु ऐसी बात नहीं है। मैं तो दावे के साथ कह सकता हूँ कि यदि आज भी महर्षि चरक के एक एक शब्द का पालन किया जाय, तो निस्सन्देह कायाकल्प हो सकता है। किन्तु वह बुद्धि, परिश्रम और प्रचुर अर्थ-व्यय के बाद साध्य हो सकता है। किन्तु वही कायाकल्प कार्य किसी प्रकार भी रसौषधि द्वारा सम्भव नहीं है। प्रत्येक अध्ययन शील, विद्वान् और बुद्धिमान् व्यक्ति को यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि रसौषधि की अपेक्षा वनौषधि अधिक उपयोगी, स्वल्पमूल्य और प्राचीन है।

कर्णिकार

श्रीयुत् रूपलाल वैश्य सम्पादक 'बूटीदर्पण'

कई महीनों की प्रतीक्षा के बाद आज 'वनौषधि' पत्रिका का प्रथमाङ्क देख कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है। आरम्भ में कोई भी कार्य हो कठिनाई तो होती ही है। आजकल वनौषधियों का यथार्थ ज्ञान होना हमारे ऐसे अनभिज्ञों के लिये जटिल समस्या है। परन्तु इस समय वैद्य-समाज की दृष्टि इस ओर झुक गई है और इसके लिये अन्वेषण भी जहाँ तहाँ आरम्भ हो गया है। मैं वनौषधियों की खोज में युवा से वृद्धावस्था तक लगा हुआ हूँ किन्तु वनौषधियों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं कर सका। अब मेरी अवस्था वैसी नहीं है कि मैं घूम फिर कर बूटियों का कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकूं। 'वनौषधि' के द्वारा अपनी शङ्काओं का समाधान होने की आशा से मैं हर्षित हो रहा हूँ।

कवीन्द्र पं० श्री चन्द्रशेखरधरजी मिश्र मेरे वनौषधि गुरु हैं १५ वर्षों से अधिक हुआ होगा, जब मैंने आपके घर पर जाकर आपको वनौषधि वाटिका देखी थी, तब आपने मुझ पर प्रसन्न होकर बगहा रतनमाला से मेरे विहारवाले निवास स्थान को पवित्र किया था। तब से पूज्य मिश्रजी का स्नेह मुझ पर बराबर बना रहता है।

'कर्णिकार' कौन सी वनौषधि है? इसकी खोज मैं बहुत दिनों से कर रहा हूँ। अभी तक मेरा यही अनुमान है कि कर्णिकार अमलतास का भेद है तथा इसको छोटा अमलतास कहते हैं किन्तु इसका पञ्चाङ्ग कैसा होता है यह देखने का सौभाग्य अभीतक प्राप्त नहीं हुआ है। उक्त श्री पूज्य पण्डितजी का 'कर्णिकार' शीर्षक लेख देख कर शङ्का समाधान होने की जगह और दृढ़ हो गई है। 'कर्णिकार' के पर्याय वाचक नाम परिव्याध और द्रुमोत्पल को मैं मानता हूँ किन्तु कर्णिकार और बङ्गाल के प्रसिद्ध उलट कमल के एक ही वनौषधि होने में सन्देह है यद्यपि उलट कमल के पर्याय-वाचक नाम परिव्याध और द्रुमोत्पल होने में सन्देह नहीं है।

आरग्वधो राजवृक्षः शम्याकश्चतुरङ्गुलः।
आरेवतः व्याधिघातः कृतमालः सुवर्णकः॥
कर्णिकारो दीर्घफलः स्वार्णाङ्गः स्वर्णभूषणः।

— भावप्रकाश

यहाँ आरग्वध (अमलतास) का पर्याय वाचक नाम कर्णिकार आया है और टीकाकार ने कोष्ठ में महाकर्णिकार और द्रुमोत्पल दिया है। क्या इससे आरग्वध, कर्णिकार और द्रुमोत्पल तीनों को एक वनौषधि अर्थात् अमलतास मान सकते हैं? मेरी समझ में तीनों भिन्न भिन्न तीन वनौषधियाँ हैं। कर्णिकार और महाकर्णिकार से छोटे और बड़े कर्णिकार होने का बोध होता है। यदि कर्णिकार और आरग्वध को एक ही वनौषधि मानते हैं तब छोटे और बड़े के भेद से अमलतास दो प्रकार का होता है। लाला शालिग्रामजी ने अपने निघण्टु-भूषण में कर्णिकार को दूसरे प्रकार का अमलतास अर्थात् अमलतास का भेद माना है। निघण्टु रत्नाकर में इसके गुणों का वर्णन निम्न शब्दों में किया गया है।

कर्णिकारः सरः स्निग्धः कटूष्णः कफशूलहा।
उदरकृमिमेहघ्नो व्रणगुल्महरो नृप॥

स्वर्गीय बाबू उमेशचन्द्र गुप्त अपने औषधि-शब्द-सिन्धु में कर्णिकार के विषय में इस प्रकार लिखते हैं:-

A sort of Cassia (Cassia Fistula) (अर्थात् एक प्रकार का अमलतास) ह्रस्व स्वर्णालुवृक्षे,

बं० छोटे सोनालु गाछ, म० लघु वाहवा, ते० किरुगक्के। गुणाः—तिक्तरसः, कटूष्णः, कफशूलघ्नः, उदर उदरकृमिमेहघ्नः, व्रणघ्नो गुल्मघ्नश्च। —राजनिघण्टु

कर्णिकार का दूसरा अर्थ द्रुमोत्पल लिखा है। बं० उलट कमल, हि० कलियार, कनियार, ते० रेलचेट्टु, कोंढ़ गोगुचेट्टु, गोगुचेट्टु। गुणाः—कटुः, तिक्तः, लघुः, शोधनस्तुवरः, रञ्जनः, सुखदः, शोथ-श्लेष्मकुष्ठहरश्च।—रा० नि०।

कर्णिकार के दूसरे अर्थ में लैटिन नाम Pterospermun Acerifolium लिखा है। परन्तु यह लैटिन नाम उलट कमल का नहीं है। वास्तव में यह नाम कनकचम्पे का है। मेटेरिया मेडिका वाले इसका संस्कृत नाम कर्णिकार, हि० कनकचम्पा, कठचम्पा और कनियार लिखा है। उक्त उलट कमल का हिन्दी नाम कलियार और कनियार लिखना भ्रमात्मक जान पड़ता है। उसी शब्द सिन्धु में परिव्याध शब्द देखने से इसका पहला अर्थ द्रुमोत्पल, उलट कमल (लैटिन नाम वही जो ऊपर दिया है। दूसरा अर्थ जलबेंत और तीसरा कर्णिकार लिखा है। फिर द्रुमोत्पल शब्द देखने से लैटिन नाम Abroma Augusta, सं० कर्णिकार और बं० उलट कमल तथा गुण—'ऋतुशूले हितः' ऐसा कहा है। वास्तव में Abroma Augusta उलट कमल को ही कहते हैं। उलट कमल के पीवरी, पेवरी, पोषिणी, ऋतुमती आदि भी नाम है।

उलट कमल प्रायः गरम प्रान्तों में पश्चिमोत्तर प्रदेश से खासिया पहाड़ और आसाम तक पाया जाता है। बङ्गाल में अधिक मिलता है। इसके वृक्ष बहुत छोटे १०-१२ फुट तक ऊँचे और अचिरस्थायी होते हैं। बङ्गाल की वाटिकाओं के सिवा अन्य प्रान्तों की वाटिकाओं में भी रोपण किये जाते हैं। कहीं कहीं जङ्गली वृक्ष भी देखा जाता है। पत्ते शिण्डी के पत्तों के आकार वाले ५-७ भागों में त्रिकोणाकार कटे किनारे वाले ६-८ इञ्च के घेरे में गोलाकार होते हैं। जब इस वृक्ष के फूलने का समय आता है तब फूल आनेवाली जो शाखायें निकलती हैं वे आकाश की ओर या भूमि की ओर झुकी नहीं रहती हैं किन्तु आड़ी सीधी बढ़ती हैं। इसके पत्ते उक्त पत्तों से भिन्न आकार के होते हैं। जड़ की ओर गोलाकार, अण्डाकार फिर संकुचित और अनीदार होते हैं। इन्हीं शाखाओं पर ४-६ अङ्गुल की दूरी पर सिलसिलेवार भूमि की ओर लटके हुए पुष्प-कोष आते हैं। फूल पोस्तदाने के फूल के आकार वाले कटोरीनुमे एक इञ्च के घेरे में गोलाकार लालरङ्ग के आते हैं। पुष्पदल अत्यन्त पतले, हलके तथा कोमल होते हैं उक्त शीर्षक में कहा गया है कि 'डण्डियों की मृदुलता के कारण (फूल) उलटे लटके होते हैं।' मेरी समझ में यह बात ठीक नहीं है। डण्डियों की मृदुलता के कारण फूल उलटे लटके नहीं होते बल्कि ईश्वरीय प्रकृति के अनुसार पुष्पकोष भूमि की ओर लटके हुए प्रकट होते हैं और पुष्पदल निकल कर बढ़ते हैं, किन्तु ज्योंही पुष्पदल अपनी आयु को पूर्णकर पुष्पकोष से पृथक् हो भूमि पर गिर जाते हैं त्योंही वह पुष्पकोष भूमि की ओर से उलट कर ऊपर आकाश की ओर मुड़ जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक पुष्पकोष के पुष्पदल के गिर जाने पर बारी बारी उलट कर ऊपर की ओर चला जाया करता है। इसी कारण इसको उलट कमल कहते हैं। पुष्पकोष के भीतर फलकोष या यों कहिये बीजकोष प्रगट होता है जो आधे कमरख के समान ५ भाग या कोणवाला होता है। पकने पर कटोरीनुमा हो जाता है और भीतर जाली दीख पड़ती है। कोण की प्रत्येक धार पर जाली के भीतर सूक्ष्म रोम होते हैं और रोमों के बीच दो कतारों में कालेरङ्ग

के वन तुलसी के बीज के समान बीज होते हैं। बीज-कोष के सूखने पर बीज भूमि पर गिर जाते हैं और वर्षा का पानी पड़ने पर अङ्कुरित हो पौधे के रूप में बढ़ते हैं।

कर्णिकार को कनेर कहना बड़ी भारी भूल है एवं कर्णिकार और उलट कमल को एक ही वनौषधि मानना भी भ्रमात्मक है, क्योंकि उलट कमल के गुण कर्णिकार में नहीं पाये जाते। अतएव पूज्य मिश्र जी तथा अन्य वैद्यवरों से सादर निवेदन है कि यदि कर्णिकार और द्रुमोत्पल (उलट कमल) एक ही वनौषधि है तो सप्रमाण सिद्ध करने की कृपा करें और यदि दोनों भिन्न वनस्पति हों तो कर्णिकार का पूर्ण परिचय देकर मेरा भ्रम दूर करें।

उलट कमल के फूलों की गन्धि की ओर मैंने ध्यान नहीं दिया था किन्तु फूलों का अतिमनोहर होना मेरी समझ नहीं बतलाती।

थोड़ी मात्रा में मैंने उलट कमल के बीजों का सङ्ग्रह कर लिया है। जिन महानुभावों को इसकी परीक्षा करनी हो वे मेरे पास या चरक-अनुसन्धान-भवन को ६ पैसे के टिकट भेज कर बीज मँगवा लें और अपने यहाँ रोपण कर परीक्षा करें। इसका वृक्ष साल दो साल में ही फूल फल देने लगता है।

उलट कमल के गुणः—अर्शरोग, योनिरोग, रजोदोष और प्रदर को शान्त करनेवाला, पेट की पीड़ा और आध्मान को दूर करने वाला तथा मासिकधर्म की पीड़ा या मासिकधर्म के विकार से उत्पन्न हुए वन्ध्यापन का नाश करने वाला है।

प्रयोगः—(१) इसकी जड़, छाल और पत्ते औषधि के काम में आते हैं। जड़ की छाल बिगड़े हुए मासिक धर्म का शुद्ध करनेवाली है। इसकी छाल स्तम्भ से सहज में निकल आती है। मोटी छाल में एक प्रकार का लसवाला द्रव पदार्थ होता है। जो पानी में घुल जाता है ये ही सार भाग अधिक गुणकारी होता है।

(२) प्रदर रोग और ऋतुधर्म के अनियमित समय पर होने में जड़ की छाल और काली मिर्च के चूर्ण का २ से ६ माशे की मात्रा दोनों समय सेवन करने से लाभ होता है। ५ तोले सूखी छाल को यव कूट कर २॥ पाव पानी में काढ़ा तैयार कर २॥ तोले की मात्रा से दिन में तीन बार देने से कुछ दिनों में मासिकधर्म उचित समय पर होने लगता है। ऋतुधर्म होने से एक सप्ताह पहले इसको आरम्भ कर ऋतुधर्म होने तक देना चाहिये। अथवा वैद्य अपने विचार से काम लें। जिस दशा में रजस्वला का रुधिर जम जाता है उस समय इसका प्रयोग अति लाभदायक होता है।

कस्तूरी

यद्यपि मृगों की अनेक जातियाँ हैं, तथापि कस्तूरी केवल 'एणमृग' और 'कस्मरमृग' इन दो जातियों से प्राप्त होती है। साधारण जनता में यह भ्रम है कि कस्तूरी मृग का मद होता है, किन्तु यह धारणा असत्य है, कस्तूरी मृग की नाभि-ग्रन्थि है, जो केवल पुरुष मृगों में ही पाई जाती है। यह जीवित मृग में बहुत गीली होती है। मृग के मर जाने पर जब इस ग्रन्थि को उससे भिन्न करते हैं तो यह शनैः शनैः सूखने और रवादार होने लगती है, जिस समय यह नाभि से भिन्न की जाती है, उस समय इसका वर्ण अधिक लाल कच्ची अफीम के समान रहता है, किन्तु कुछ दिनों के बाद श्यामवर्ण की हो जाती है।

एण जाति के मृग की कस्तूरी वर्ण में कत्थई या उत्तम कच्ची अफीम के रङ्ग की होती है। इसमें गन्ध भी अधिक होती है। यह कस्मर की अपेक्षा गुण में भी कई गुणा अधिक है। एण मृग प्रायः नैपाल, तिब्बत की ओर होता है, यह कस्मर से बड़ा और वर्ण में कुछ भूरापन लिये श्वेत होता है। कस्मर मृग, काश्मीर, कुल्लू, पित्ती. लाहौर आदि की ओर होता है।

कस्तूरी की परीक्षाः—

स्वाद—यह सबसे उत्तम परीक्षा है, किन्तु उन्हींके लिये. जो इसका सेवन अधिक करते हैं। असली कस्तूरी रस में कटु और बहुत स्निग्ध होती है। जैसी कटुता और स्निग्धता असली कस्तूरी में होती है, वैसी आज तक किसी भी नकली कस्तूरी में नहीं देखी गई।

गन्ध—आज कल बाजारों में विविध प्रकार के विदेशी सेण्ट प्रचलित हैं, जो कस्तूरी के समान गन्ध रखते हैं, किन्तु असली कस्तूरी से इनका गन्ध तीव्र और अल्पस्थायी होता है। अगर असली कस्तूरी खुली छोड़ दी जाय, तो यद्यपि वजन में क्रमशः कम होती जायगी, तथापि गन्ध तबतक नहीं नष्ट होगी, जबतक सम्पूर्ण कस्तूरी-गन्ध के परमाणु उससे न निकल जायँ। नकली कस्तूरी की गन्ध एक ही दिन में उड़ जाती है।

रासायनिक परीक्षा—अगर इसे रेक्टिफाइड् स्पिरिट् में घोलें तो घुल जाती है और जो तलछट बचता है उसमें तीन वस्तुएं पाई जाती हैं। झिल्ली, दूसरे कुछ रेत के कण, तीसरे कुछ बाल। इनकी मात्रा फी तोला कस्तूरी में माशा डेढ़ माशा से अधिक नहीं होती। पर नकली कस्तूरी जो जुन्दवेदस्तर से बनाई जाती है. उसका कुछ अधिक हिस्सा स्पिरिट् में घुलता है बाकी जितनी भी नकली कस्तूरी है वह सब बहुत ही कम घुलती है।

दूसरी परीक्षा—कस्तूरी को जल में भिंगो देने से कुछ देर में जल का वर्ण पीताभ हो जाता है, पर नकली कस्तूरी सिवाय जुन्दवेदस्तर के कोई भी पीताभ जल नहीं देती। जुन्द की बनी कस्तूरी का जल गहरा पीत और भूरा होता है। यदि हाथ न लगाया जाय अथवा हिलाया न जाय तो जल में इसका रङ्ग कस्तूरी की अपेक्षा अधिक देर में आता है।

तीसरी परीक्षा—कस्तूरी को एक सूत में खूब मल देते हैं और उसको लहसुन के रस के हलके घोल में एक बार डुबोकर निकाल लेते हैं, तब सूत के सूख जाने पर गन्ध लेने से अगर कस्तूरी की गन्ध आवे तो समझना चाहिये कि उत्तम कस्तूरी है, किन्तु धागे पर कस्तूरी मलने के समय पर्याप्त मात्रा में मलना चाहिये।

कस्तूरी में मिश्रण और व्यापार।

कस्तूरी में कई पदार्थों का मिश्रण किया जाता है। पहिला मिश्रण हल्दी या काश्मीरी कस्तूरी का किया जाता है। दूसरा कस्तूरी की झिल्ली को खूब बारीक काट कर मिला देते हैं। इस झिल्ली को 'मदन' कहते हैं। इनके अतिरिक्त सत्व मुलहठी लता कस्तूरी का घन सत्व, इसबगोल आदि हैं, जो तैलाक्त करके और वर्णायुक्त बना कर मिलाये जाते हैं। भिन्न भिन्न प्रकार के विदेशो सेएट भी अब मिलाने लगे हैं। इस प्रकार की नकली कस्तूरी अमृतसर, लुधियाना से अधिक बन कर मद्रास और बम्बई की ओर वेची जाती है। मद्रास में प्रतिशत ९५ दूकानदारों के पास यही नकली कस्तूरी मिलती है। यह कस्तूरी अधिकतर जुन्दवेंदस्तर से बनती है, जिस पर एमोनियाँ की गन्ध चढ़ी रहती है।

कस्तूरी का उपयोग—यह अत्यन्त उष्ण और रूक्ष तथा प्रबल उत्तेजक है। इसके रक्त में मिलते ही शरीर का तापमान बढ़ जाता है, हृदय और नाड़ी की गति बढ़ जाती है, धमनियों का प्रसार होता है और नाड़ी मण्डल उत्तेजित हो जाता है। लकवा एवं अन्य वात की बीमारियों के कारण—जो अङ्ग शिथिल हो जाते हैं वे पुनः सजीव होने लगते हैं। जननेन्द्रिय पर इसका कभी कभी स्थायी प्रभाव पड़ता है। सन्निपात में जब नाड़ी पड़ने लगती है, शरीर शीतल होने लगता है, उस समय इसका आश्चर्यजनक प्रभाव होता है। न्यूमोनियाँ तथा मरणासन्न रोगी के गले में जब कफ अटक जाता है और ज्ञान लुप्त होने लगता है, उस समय एक दो मात्रा में ही रोगी की दशा सुधर जाती है। वात की बीमारियाँ, नपुंसकता और स्नायुवों की दुर्बलता में यह बहुत लाभ करती है। वास्तव में यह वस्तु वसुन्धरा का एक अनुपम रत्न है। "आयुर्विज्ञान" से

वनौषधि का महत्व

श्रीयुत् बदरीनाथजी वैद्य, आयुर्वेद-पञ्चानन

वनौषधि-पत्रिका का प्रथमाङ्क देखकर अतिहर्ष हुआ। वैदिक काल से पौराणिक काल तक भारत में वनौषधि-चिकित्सा का ही प्राधान्य रहा। तन्त्रयुग से अन्यान्य चिकित्सा-प्रणालियों के प्रचलित हो जाने से यह चिकित्सा गौण हो गयी। इसीलिये अनेक दिव्य वनौषधियाँ प्रायः लुप्त होने लगी हैं। रसों के निर्माण और अनुपान में ही इनका परिमित प्रयोग ही रह गया है। यही कारण है कि हम वनौषधियों के उत्पत्तिस्थान, स्वरूप, अनुपम गुणों से अनभिज्ञ होकर पँसारियों और मुसहरों के अवलम्ब पर ही अवलम्बित रह गये। इसकी अतिक्षीण गति को देखते हुए ऐसे समय पत्रिका-सञ्चालकों का सदुद्देश्य और उत्साह नितान्त प्रशंसनीय और आवश्यक जान पड़ता है। अतः हम ईश्वर से हार्दिक प्रार्थना करते हैं कि सञ्चालकों का उत्साह दिनोंदिन बढ़े और प्रसुप्त जनता में जागृति फैले।

बड़े ही खेद और आश्चर्य का विषय है कि विदेशी आयुर्विज्ञान-विशारद भारत के पर्वतों और जङ्गलों में घूम घूम कर वनौषधियों के अन्वेषण में सतत प्रवृत्त हैं और भारतीय आयुर्वेदशास्त्र की सहायता से वे हमारी वनौषधियों के गुणों से लाभ उठा कर करोड़ों रुपये कमा रहे हैं और इस विषय में खर्च भी कर रहे हैं, परन्तु हमें उसका पता भी नहीं है। और हो भी तो कैसे? न हमें उसका शौक़ है, न अवकाश है और न धन सहायक ही है। हम तो निर्मता, लोभ और अभि-

मान से ओत-प्रोत हैं। न तो हमें स्वयं ज्ञान है और न जानने की इच्छा ही है। इस सम्बन्ध में भड़ोच निवासी वैद्यवर श्री बापालाल गर वड़दास शाह ने बहुत ही अच्छा सङ्ग्रह किया है। हम भी वनौषधियों के सम्बन्ध में उसके आधार पर कुछ लिखने का साहस कर रहे हैं।

भारतीय-संस्कृति का विस्तार वृक्ष प्रचुर वनों में ही हुआ था। हमारे पूर्वजों ने वृक्षों को बड़ा ही महत्व दिया है। अतिथियों के पारस्परिक कुशल प्रश्नों में भी वृक्षों का स्थान है। रघुवंश में कविकुल गुरू कालिदास लिखते हैं—

आधारबन्ध-प्रमुखैः प्रयत्नैः
सम्वर्द्धितानां सुतनिर्विशेषम्।
कच्चिन्न वाय्वादिरुपप्लुवो वः
श्रमच्छिदामाश्रम-पादपानाम्॥

अर्थात्—थाँवला वनाना, जलदेना, रक्षा करना काँटना-छाँटना आदि अनेक प्रयत्नों से बच्चों के समान लालन-पालन किये गये और पथिकों का श्रम दूर करने वाले आपके आश्रम के वृक्ष, आँधी, आग आदि उपद्रवों से सुरक्षित तो हैं न?

हिन्दू-साहित्य में वृक्षों को जितना उच्चस्थान दिया गया है उतना किसी भी साहित्य में नहीं होगा। भारतीय आर्यगण, सांसारिक कृत्रिम और विलासी जीवन न व्यतीत करने के लिये जङ्गलों और पर्वतों में ही रहकर श्रेय की साधना करते थे।

इतिहास के मध्यकाल में भारतीय चित्र कला का झुकाव भी वृक्षों एवं कठोर साधनाओं की ओर ही था। संसार प्रसिद्ध कवि सम्राट् रवीन्द्र-नाथ ठाकुर ने लिखा है:—

Even in the hegdag of its material prosperity the heart of India ever looked with adoration upon the early ideal of strenaus self-realization and the dignity of the simple life of forest hermitage. —RAVINDRA NATH TAGORE.

इसके स्मृति-चिह्न आज भी देखने में आते हैं। उपनिषदों के ऐसे उदात्त ग्रन्थ समस्त-संसार के शिष्ट साहित्य में अन्वेषण करने पर भी प्राप्त नहीं हो सकते, वे भी आरण्यकों पर ही लिखे गये हैं। आरण्यक शब्द से ही उनकी वनों में उत्पत्ति प्रतीत होती है।

यदि कोई चित्रकार भारतीय संस्कृति का चित्र खींचना चाहे तो विना वन्य दृश्य दिखलाए उसकी पूर्णता ही नहीं हो सकती। जङ्गलों के शान्त-सौन्दर्य में विशाल वटवृक्ष के नीचे शान्त एवं मनोहर पर्णकुटी में गेरुआवस्त्र से ही भारतीय संस्कृति का सच्चा चित्र शोभित होता है।

इन्हीं कारणों से भारतीय कवियों ने और तत्त्वदर्शियों ने वृक्षों की पूजा का वर्णन किया है।

महाकवि भवभूति लिखते हैं:—

'यो देहमर्पयति चान्यसुखस्य हेतो-
स्तस्मै वदान्यगुरवे तरवे नमोस्तु।'

अङ्गरेजी साहित्य के प्रसिद्ध साहित्यकार इमर्सन ने भी वृक्षों को Trees are imperfect men. अपूर्ण मनुष्य कहा है। [क्रमशः]

प्लेग

श्रीयुत् चन्द्रशेखर त्रिवेदी, आयुर्वेदाचार्य,
ए० एम्० एस्०

यह एक भयानक रोग है इसका प्रकोप केवल भारत में ही नहीं, अपितु अखिलविश्व में हुआ करता है। डाक्टरों का कहना है कि ईसाके ३०० वर्ष पूर्व इस रोगका ग्रीस और मिश्र में प्रकोप हुआ। बाइबिल में जिस सुलेमान बादशाह का वर्णन आया है उसके समय इस रोग का भयानक प्रकोप हुआ था। ई० सन् ५४६ में फ्राँस में इसका पहला आक्रमण हुआ और क्रमशः १७६६ तक यह योरप के भिन्न भिन्न भागों में व्याप्त हो गया।

आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में भी 'अग्नरोहिणी' नाम से इसका वर्णन आया है, यद्यपि वह स्वल्प है किन्तु उस समय की दृष्टि से वह सन्तोषजनक ही कहा जा सकता है।

कक्षभागेषु ये स्फोटा जायन्ते मांसदारणाः।
अन्तर्दाह-ज्वरकरा दीप्त-पावक-सन्निभाः॥
सप्ताहाद्वा दशाहाद्वा पक्षाद्वा हन्ति मानवम्।
तमग्निरोहिणीं विद्यादसाध्यां सर्वदोषजम्॥

चरक में भी इसका वर्णन आया है और वह साध्य होते हुए भी उपेक्षा से असाध्य बतलाया गया है। जैसे:—

सन्ति त्वेवंविधा रोगाः साध्या दारुणसम्मताः।
ये हन्युरनुपक्रान्ता मिथ्यारम्भेण वा पुनः॥

अन्य ग्रन्थों में भी कहीं कहीं लिखा मिलता है। जैसे:—

पित्तरक्तोत्कटा दोषाः प्रदीप्ताङ्गार-सन्निभान्।
कक्षभागेषु कुर्वन्ति तीव्रदाह-रुजा-ज्वरान्।
मांसावदारणान् स्फोटान् ये; हन्युरनुपक्रमात्।
पक्षाद्दशाहादर्वाग्वा सा ज्ञेया वह्निरोहिणी॥

इन प्रमाणों से पाठक देख सकते हैं कि आज से कई सहस्र वर्ष पूर्व आयुर्वेद के आचार्यों ने इस रोग को असाध्य माना था। आश्चर्य और दुःख के साथ कहना पड़ता है कि पाश्चात्य-विज्ञान इतना उन्नत होने पर तथा इसके कारणों एवं लक्षणों का इतना अनुसन्धान कर लेने पर भी अभी तक किसी अव्यर्थ महौषधि का आविष्कार न कर सका।

प्लेग का कारण—यद्यपि सन् १८४० से ही पाश्चात्य वैज्ञानिक इस रोग के जीवाणुओं की खोज में थे, तथापि १८९४ में जिस समय कि हाँगकाँग में प्लेग का भीषण प्रकोप हुआ था, उस समय 'यर्सिन' और 'कीटासाटो' नामक विद्वानों ने इसके जीवाणु को प्रत्यक्ष किया। यह जीवाणु सरल दण्डाकार होता है। इसके दोनों सिरे गोल होते हैं और निश्चल होता है। अमेरिका के खोज के अनुसार यह शीत में १० वर्षों तक जीवित रह सकता है। सूर्यप्रकाश में ४ से ५ घण्टे के भीतर मर जाता है। अन्धेरे और शीतयुक्त स्थानों में इसका निवास रहता है। यह मूषक, प्लेग-दूषित-मनुष्य और पिस्सुओं में अधिक होता है।

लक्षण-

इस रोग के चार प्रकार हैं—

(१) सौम्यप्रकार Pestis minor—इस प्रकार में ज्वर सौम्य रहता है और लसीका ग्रन्थियाँ थोड़ी फूल जाती हैं। इसमें अधिक उपद्रव नहीं होते और रोगी साधारण उपचार से भी अच्छा हो जाता है।

(२) ग्रान्थिक प्रकार Bubonic Plague—

इसमें आक्रमण के समय शिर में अत्यन्त शूल मालूम होता है। शरीर में दर्द और अङ्गों में जकड़ाहट

तथा बेचैनी एवं कमजोरी प्रतीत होती है। कुछ समय के बाद शीत मालूम होता है और तीव्र ज्वर आ जाता है जो २, ३ रोज के बाद अति तीव्र हो जाता है। ज्वर के साथ साथ ग्रन्थियाँ फूलने लगती हैं और उनमें भी द्रुत वेदना और दाह रहता है। ग्रन्थियाँ कक्ष, वंक्षण तथा गले में होती हैं। जिह्वा मैली रहती है। नाड़ी शीघ्र और क्षीण रहती है। रोगी को अत्यन्त दुर्बलता रहती है। त्वचा और श्लेष्मल कला से कभी कभी रक्तस्राव होता है। इस रोग से छ रोज के अन्दर मृत्यु हो जाती है।

(३) Pneumonie Plague **फुफ्फुसगत प्लेग**–

इस प्रकार में ग्रन्थियों की वृद्धि नहीं होती। ज्वर सहसा आ जाता है। श्वासकृच्छ्र, कास, श्वास और वक्ष में वेदना प्रतीत होती है। कफ और थूक में रक्त रहता है। न्यूमोनियाँ के समान नाड़ी और श्वास के अनुपात में भिन्नता नहीं आती। गात्र में नीलिमा अधिक रहती है। प्लीहा की वृद्धि हो जाती है और अन्ततोगत्वा हृदयावसाद से चार रोज के अन्दर मृत्यु हो जाती है।

(४) Septi Caemic Plague **रक्तगत प्रकार**–

इस प्रकार में रक्तस्राव अधिक रहता है। इसमें जीवाणु रक्त में मिल जाते हैं और २।३ रोज के अन्दर मृत्यु हो जाती है।

साध्यासाध्यता :–

फुफ्फुसगत और रक्तगत प्रकार असाध्य हैं। ग्रन्थिक प्रकार में प्रतिशत ३० से ८० तक मृत्यु हो सकती है।

चिकित्सा :–

पाश्चात्य विज्ञान में इस रोग के दो उपक्रम हैं–

प्रथम प्रतिबन्धक स्वरूप—यह एक प्राकृतिक नियम है कि शरीर में जब कोई रोगोत्पादक जीवाणु या विष प्रवेश करता है तब शरीर के धातु उसे निकालने का प्रयत्न करते हैं। जब वह नहीं निकल पाता तब उसके नाश के लिये धातुओं से एक प्रकार का प्रतिविष बनता है जो उन जीवाणुओं तथा उस विष के लिये घातक होता है। अस्तु! डा० 'हाफकीन' ने इस सिद्धान्त पर एक तरल तैयार किया जो प्लेग का टीका के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें प्लेग के जीवाणु पोषक माँसरस में वर्द्धित किये जाते हैं और उनकी एक निश्चित मात्रा लेकर ६५° डिग्री ताप कर गरम की जाती है जिससे वे शक्तिहीन हो जाते हैं और उनके साथ ५ प्रतिशत कार्बोलिक अम्ल मिला दिया जाता है और इस प्रकार इस टीका का निर्माण होता है।

इस टीका को स्वस्थ पुरुषों में देकर रोग की क्षमता उत्पन्न की जाती है। जिससे रोग होने का भय जाता रहता है।

द्वितीय—चिकित्सा स्वरूप लसीका—इसमें पूर्वोक्त सिद्धान्त के अनुसार शशक, अश्व, वानर इत्यादि जानवरों में प्रतिविष तैयार किया जाता है और आवश्यकतानुसार उनकी ग्रवेयक-रक्तवाहिनी काट कर थोड़ा रक्त निकाल लिया जाता है, जो कुछ देर के बाद जम जाता है और उसका तरल लसीका जिसमें प्रतिविष घुला रहता है अलग हो जाता है। इस लसीका को शुद्ध काँच की नलियों में भर कर प्लेग के रोगी के रक्त में सूचिकाभरण के द्वारा प्रविष्ट करते हैं।

पाश्चात्य चिकित्सा इसी सिद्धान्त पर अवलम्बित है। क्या कोई चिकित्सक इस रोग की अनुभूत और वैज्ञानिक चिकित्सा लिखने की कृपा करेगें?

'गृञ्जन क्या है'

पूज्य रसायन-शास्त्री श्री भागीरथ स्वामी का उक्त शीर्षक लेख "वनौषधि" के प्रथमाङ्क में देख कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। एक शब्द के कई अर्थ होने से ही टीकाकार प्रायः गलती किया करते हैं। मैं बहुत दिनों से "गृञ्जन" का प्रधान अर्थ शलजम जानता हूँ। मेरी समझ में भावप्रकाश के निम्न श्लोक में किसी कारण से हेरफेर हो गया है—

गृञ्जनं गाजरं प्रोक्तं तथा नारङ्गवर्णकम्।

इसमें गृञ्जन शब्द प्रथम आया है।

किन्तु शालग्राम-निघण्टुभूषण में और आयुर्वेद चिन्तामणि में गाजर शब्द पहले आया है—

गाजरं गृञ्जनं प्रोक्तं तथा नारङ्गवर्णकम्।

किन्तु मेरी समझ में मूलपाठ —

गर्ज्जरं गृञ्जनं प्रोक्तं तथा नारङ्गवर्णकम्।

ऐसा होगा, जो किसी हेरफेर से गर्ज्जर की जगह गाजरं हो गया। जो हो, ऐसी रचना का अनुसन्धान करना विद्वान् पण्डितों का कार्य है। मेरी समझ में भावमिश्र का अभिप्राय गाजर से ही है, शलजम से नहीं, क्योंकि इसके गुणों को बतलाने वाला दूसरा श्लोक गाजर से आरम्भ होता है। यथा—

गाजरं मधुरं तीक्ष्णं तिक्तोष्णं दीपनं लघु।
संग्राही रक्तपित्तार्शो ग्रहणी कफवातजित्॥

गाजर—मधुर, तीक्ष्ण, कड़वा, गरम, दीपन, हलका, मलरोधक तथा रक्तपित्त, अर्श, सङ्ग्रहणी, कफ और वात का नाश करनेवाला है।

फिर शालग्राम-निघण्टुभूषण में ही उक्त श्लोक के बाद निम्न पाठ आया है—

गृञ्जनं शिखिमूलं च यमनेष्टं च वर्त्तुलम्।
ग्रन्थिमूलं शिखाकन्दं तथा डिण्डिरमोदकम्॥

श्रीयुत् रूपलाल वैश्य, सम्पादक 'बूटीदर्पण'

यहाँ गृञ्जन प्रधान शब्द है। इसमें गाजर या गर्ज्जर शब्द नहीं आया है। गृञ्जन से शलजम का अभिप्राय है। गुण—

गृञ्जनं कटुचोष्णं हि कफवातरुजापहम्।
रुच्यं च दीपनं हृद्यं दुर्गन्धं गुल्मनाशनम्॥

गृञ्जन—चरपरा, गरम, रुचिकारक, दीपन, हृदय के लिये हितकारी तथा कफ वात रोग, दुर्गन्ध और गुल्म का नाश करने वाला है।

वैद्यक शब्दसिन्धु में गृञ्जन के अर्थ में "रक्तमूलक विशेष" बङ्गला में शलजम और हिन्दी में गाजर लिखा है। परन्तु अभिप्राय शलजम से ही है, गाजर से नहीं, क्योंकि इसके गुण उक्त गृञ्जन (शलजम) के समान लिखे हैं, यथा—

कटूष्णं, कफवातघ्नं, रुच्यं, दीपनं, हृद्यं, दुर्गन्धं, गुल्मघ्नञ्च।

किसी वैद्यक शब्द-सिन्धु में "गर्ज्जरं" शब्द के अर्थ में "स्वनाम ख्यात मूल शाक" बङ्गला में गाजर मूल लिखा है। गार्ज्जर में भी यही बात है। गृञ्जन शब्द के अर्थ में गर्ज्जर वा गार्ज्जर नहीं; तथा गर्ज्जर वा गार्ज्जर शब्द के अर्थ में गृञ्जन नहीं लिखा है।

गर्ज्जर के गुण भी उक्त गाजर के समान ही लिखे हैं, यथा—

मधुरं रुच्यं इषत्कटु कफघ्नं आध्मानकृमि शूलघ्नं दाहपित्ततृष्णाघ्नञ्च।

इस प्रकार मैं गृञ्जन को शलजम ही मानता हूँ।

शलजम को यवन लोग माँस में मिलाकर या यों ही पकाकर अधिक खाते हैं। इसलिये इसका नाम यवनेष्ट भी है। इसमें एक प्रकार की गन्ध आती है। इस कारण लहसुन, प्याज की नाईं यह भी त्याज्य है।

तालीशपत्र

श्रीलक्ष्मीनारायण शर्मा दाधीच
अष्टाङ्ग आयुर्वेद कालेज, कलकत्ता

द्रव्यगुण-शास्त्र आयुर्विज्ञान का प्राण-पोषक है। औषधियों के उपयोगी गुणों के ज्ञान के विना चिकित्सक कुछ कर नहीं सकता। अनिश्चितकारियों को भगवान् धन्वन्तरि ने श्वपच वतलाया है—

श्वपचाविव मन्तव्यौ तावनिश्चितकारिणौ।

किन्तु अत्यन्त दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि चिकित्सक समाज का ध्यान इस अंग की तरफ जैसा होना चाहिये वैसा नहीं है। हमारे देश में उत्पन्न होनेवाले द्रव्यों से विदेशी दिनरात लाभ उठा रहे हैं। पूर्ण वैज्ञानिक रूप से उनका विश्लेषण कर अपने उपयोग में ला रहे हैं। सन् १८९८ ई० में ही ४० भारतीय औषधियाँ "ब्रिटिश फरमाकोपिया" में मिला ली गयीं थीं। कलकत्ते के School of Tropical Medicine में यह कार्य प्रतिदिन अनवरुद्ध गति से किया जा रहा है।

हर्ष का विषय है कि पञ्जाब के डाक्टर चोपड़ा जो द्रव्यगुण-शास्त्र के एक अधिकारी माने जाते हैं, अब भारतीय औषधियों के अन्वेषण में ही अपना समय व्यतीत कर रहे हैं। इधर वङ्गाल में द्रव्यगुण शास्त्र के प्रगाढ़ विद्वान् श्री कार्तिकचरण बोस ने भी अपनी प्रयोगशाला में भारतीय औषधियों का क्रियात्मक प्रयोग किया है और करते जा रहे हैं। निम्न तालीशपत्र-वर्णन इन्हीं महाशय के अन्वेषण के आधार पर लिखा गया है।

प्राप्तिस्थान—

हिमालय की पर्वतश्रेणियाँ।

प्रयोग में आनेवाले अङ्ग—

पत्र, शाखा और कोमल तना।

इसका सङ्ग्रह प्रायः वसन्त में किया जाता है। इसकी रक्षा के लिये गर्म और तर जलवायु वाला स्थान उत्तम होता है। इसकी शाखायें तथा तना हरे वर्ण के होते हैं। किन्तु कुछ दिनों के वाद सूखने पर भूरे रङ्ग में परिवर्तित हो जाते हैं।

रासायनिक सङ्गठन का प्रयोग-द्वारा अन्वेषण करने पर इस औषधि में कोई क्षारीय-सत्व नहीं पाया गया है।

कार्य और गुण—

(१) यह पाचक संस्थान की क्रिया को उत्तेजित करनेवाली वनौषधि है अतः इसमें पाचन, दीपन, अग्निवर्धन और उद्गार शोधन गुण विद्यमान हैं।

(२ दूसरी क्रिया इसमें अल्प सङ्कोचन की है—जिससे अतिसार और वमन में लाभ पहुँचाती है।

इसकी तीसरी क्रिया कफनाशन की है।

दुर्गुण—

अधिक प्रयोग करने से यह विष का कार्य करता है।

मात्रा—

स्वतन्त्र २॥ रत्ती से ५ रत्ती तक।

व्यवहार Therapeutics—

इसके शुष्क पत्रों का व्यवहार राजयक्ष्मा, श्वास, कास, तथा वस्तिगत रोगों में किया जाता है। इसके पत्रों का चूर्ण वासक स्वरस तथा मधु के साथ मिला कर कास श्वास में प्रयोग करने से अधिक लाभ होता है। इसके लिये डाक्टर एफ्०, हेमिल्टन ने लिखा है कि चाय की तरह इसकी थोड़ी मात्रा लेने से स्वर-भङ्ग पर लाभ होते देखा गया है।

योग—

शास्त्रों में इसका मुख्ययोग तालीशादिचूर्ण है।

श्रीयुत् भैरवप्रसाद शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य

भृङ्गराज

भृङ्गराज ८-१० अङ्गुल ऊँचा तथा पृथ्वी पर लोटने वाला एक क्षुप है। यह प्रायः समस्त भारतवर्ष में सजलभूमि पर पैदा होता है। विशेषतः हिमालय में बहुतायत से पाया जाता है। यह प्रायः वर्षाऋतु में सर्वत्र उपजता है परन्तु नदी नालों के किनारे की सजल भूमि में सदा बना रहता है। इसमें पुष्प भी सदा देखने में आते हैं। परन्तु वर्षा की अपेक्षा अन्य ऋतुओं में कम होते हैं। यह श्वेत, पीत तथा नील पुष्पों के भेद से तीन प्रकार का होता है। इनके पत्तों पर सफेद छोटे छोटे रोम होते हैं। पीत भृङ्गराज के पत्र श्वेत भृङ्गराज की अपेक्षा अधिक खुरदरे तथा चौड़े होते हैं। पुष्प-काण्ड भी अधिक लम्बा होता है। इसका क्षुप अपेक्षाकृत बड़ा होता है और लगभग एक फुट तक ऊँचा होता है।

श्वेत भृङ्गराज को आयुर्वेदशास्त्र में "मार्कव, भृङ्गराज, भृङ्ग, केशरञ्जन, पितृप्रिय, रञ्जक, केश्य तथा कुन्तलवर्धन, आदि नामों से पुकारते हैं।" इं० Eclepta Alba, हि०, भङ्गरा, भङ्गरइया, कहीं कहीं घमरा भी कहते हैं। बं० भीमराज, म० माका, गु० भाँगरा।

पीत भृङ्गराज—सं० स्वर्ण-भृङ्गराज, हरिवास हरिप्रिय, देवप्रिय, वन्दनीय, पावन आदि.

इं० Weddia Calandulan, हि० पीला भंगरा, ब० भीमराज, म० पीला माका,

नीलभृङ्गराज-नीलभृङ्गराज, महानील, नीलक, महाभृङ्ग, नीलपुष्प, श्यामल, हि० काला भँगरा

वृद्ध वैद्य परम्परा में प्रायः श्वेत भृङ्गराज का 'केशराज' तथा पीतभृङ्गराज का 'भृङ्गराज' के नाम से व्यवहार होता है।

श्वेत भृङ्गराज तो प्रायः सर्वत्र मिल जाता है।

पीत भृङ्गराज आसाम तथा बङ्गाल में अधिक होता है। परन्तु इसकी उपज अन्य भृङ्गराजों की अपेक्षा अधिक होती है। अतएव थोड़ी कोशिश से ही यह सर्वत्र सुलभता से पैदा हो सकता है। नीले भृङ्गराज के बारे में निश्चय नहीं कहा जा सकता है कि कहाँ इसकी पैदावार अधिक होती है। परन्तु यह अपेक्षाकृत कम होता है। डा० क्षोरी का मत है कि नीलभृङ्गराज होता ही नहीं है। यह श्वेतभृङ्गराज की एक अवस्था विशेष ही है। जब श्वेतभृङ्गराज के फूलों की सफेद पत्तियाँ झड़ जाती हैं और बीज का काला बोंड़ शेष रह जाता है तब इसे नील या काला भृङ्गराज कहने लगते हैं। प्रसिद्ध पुस्तक इण्डियन मैटेरिया मेडिका के लेखक महोदय ने भी बिना किसी प्रकार के सङ्कोच के ही इसी प्रकार के भाव प्रकाशित करने का साहस कर डाला है। उसको यहाँ वैसा ही उद्धृत किया जाता है।

'The black Bhungra is a variety of the white one; when in flowers it is called white; when in fruit it is called Kala Bhungra."

अर्थात्, काला भंगरा, सफेद भंगरा का एक अवस्था भेद है। जब इसमें फूल होता है तब इसे सफेद भंगरा कहते हैं। और जब फल होता है तब काला भंगरा कहते हैं।

यह बात विचारणीय है कि जिन विद्वानों ने औरों की अपेक्षा नीलेभृङ्गराज का विशेष गुण

लिखा है। उन लोगों ने क्या विना खोज तथा विना प्रत्यक्ष प्रयोगों के ही इतना लिखने का साहस किया होगा? जिन महानुभावों को इसमें सन्देह हो वे कृपा कर वर्षाऋतु में बनारस हिन्दू-विश्व-विद्यालय के आयुर्वैदिक औषधोद्यान में पधारने का कष्ट करें तो मैं आशा करता हूँ कि उनका यह भ्रम सम्भवतः सदा के लिये दूर हो सकेगा।

निघण्टुकारों ने नीलभृङ्गराज का विशेषगुण रसायन लिख कर अन्य दोनों के गुण एक साथ ही लिखे हैं। यथा—

भृङ्गराजस्तु चक्षुष्यस्तिक्तोष्णः केशरञ्जनः।
कफ-शोफ-विषघ्नश्च तत्र नीलो रसायनः ॥ (रा. नि.)
मार्कवस्तिक्तकश्चोष्णश्चक्षुष्यः केशरञ्जनः।
त्वच्यो रूक्षश्च तीक्ष्णश्च दन्त्यो मेध्यो रसायनः।
शोफं कासं अन्त्रवृद्धिं शिरोनेत्ररुजं तथा।
कफं वातञ्च कासञ्च श्वासकुष्ठकृमीञ्जयेत् ॥
आमञ्च पाण्डुरोगञ्च हृद्रोगं त्वग्रुजं तथा।
विषञ्च नाशयत्येव कण्डूनाशकरो मतः ॥ (नि. र.)

परन्तु आचार्य राजवल्लभजी ने भृङ्गराज और केशराज को भिन्न भिन्न मान कर गुण भी भिन्न भिन्न लिखे हैं। यथा—

भृङ्गराजस्तु चक्षुष्यः केश्यः पाण्डुकफापहः।
तद्गुणः केशराजोऽपि वह्निकृच्च रसायनः ॥

ऐसा प्रतीत होता है कि शास्त्रीयप्रयोगों के आधार पर श्रीयुत राजवल्लभजी की ही यह कल्पना हो या पहिले से ही ये भिन्न भिन्न प्रयुक्त होते रहे हों और बाद में निघण्टुकारों ने अपनी सरलता के लिये सबको एक साथ ही पद्य में सम्मिलित कर दिया हो। नीचे के उदाहरणों से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि शास्त्रों में चक्षुष्य, केश्य, पाण्डुहर, कफहर प्रयोगों में प्रायः भृङ्गराज का ही प्रयोग अधिक हुआ है। वृद्ध वैद्य शिरःशूल आदि में भी भृङ्गराज का ही विशेष प्रयोग करते हैं। यथा—

भृङ्गराज-वार्ताकुजाः रसाः सक्षौद्राः कफकासघ्नाः।
तैलं दशगुणे सिद्धं भृङ्गराज-रसे शुभे। (चरक)
सेव्यमानं यथान्यायं श्वास-कासौ व्यपोहति। (सुश्रुत)
भृङ्गपुष्पं जवापुष्पं मेषीदुग्ध-प्रपेषितम्।
तेनैवालोडितं लोहपात्रस्थं भूम्यधःकृतम् ॥
सप्ताहादुद्धृतं पश्चाद् भृङ्गराजरसेन तु।
आलोड्याभज्य च शिरो वेष्टयित्वा वसेन्निशाम् ॥
प्रातस्तु क्षालनं कार्यमेवं स्यान्मूर्द्ध रञ्जनम् ॥ (भै. र.)
भृङ्गराज-रसे पक्वं शिखिपित्तेन कल्कितम्।
घृतं नस्येन पलितं हन्यात् सप्ताहयोगतः ॥
भृङ्गराज-रसप्रस्थे यष्टीमधुपलेन च।
तैलस्य कुडवं पक्वं सद्यो दृष्टिप्रसाधयेत ॥ (भै. र.)

षड्बिन्दु तैल भी शिरोरोगाधिकार का प्रसिद्ध प्रयोग है। केशराज भृङ्गराज के समान गुण होते हुए भी इसमें वह्निवर्धन तथा रसायनगुण अपेक्षाकृत अधिक है। इसी कारण इसका प्रयोग अन्य रोगों में भी पाया जाता है।

केशराज-समुद्भूता जलेन गुटकीकृता।
क्षपेत् साममतीसारं सशूलं सास्रमाशु च। (चरक)
बिल्व मार्कव रजोमूलं कल्कं मद्येन पाययेत्
तेन योनिगतं शूलमाशु शाम्यति योषिताम् ॥ (वङ्गसेन)
केशराजान्वितं सिद्धं मत्स्यकं हन्ति भक्षितम्
नक्तान्ध्यं नियतं नृणां सप्ताहात् पथ्यसेविनाम् ॥ (भै. र.)

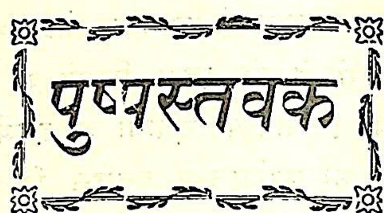
तथा इन दोनों भृङ्गराजों का उपदंश, विसर्प, श्वित्र अम्लपित्त सूर्यावर्त्त रसायन आदि में प्रयोग देखा जाता है। इनके स्वरस में साफ मलमल के कपड़े को भिगो कर सात बार धूप में सुखा लेवें, पश्चात् भावित-वस्त्र से एक बालिस्त लम्बे, चौड़े

टुकड़े पर छ मासा फिटकरी तथा छ मासा कपूर के चूर्ण को फैला देवें और लपेट कर बत्ती बना लेवें। फिर इस बत्ती से घी में भिगा कर काजल बना लेवें। इसका अञ्जन रोहे तथा पोथिका में अधिक लाभप्रद होता है।

रसायन नीले भृङ्गराज का ही विशेषगुण है। जैसा कि उपरोक्त पद से बिल्कुल निश्चित है। अतएव रसायन अधिकार के भागों में नीले भृङ्गराज का ही प्रयोग करना उचित है। शास्त्रों में रसायनाधिकार के प्रयोगों में नील या महाभृङ्गराज न लिख कर केवल भृङ्गराज शब्द का ही प्रयोग किया है।

ये मासमेकं स्वरसं पिबन्ति दिने दिने भृङ्गरजः समुत्थम्।
क्षीराशिनस्ते बलवीर्ययुक्ताः समाः शतं जीवितमाप्नुवन्ति।
(अष्टाङ्गहृदय)

भृङ्गराजादिचूर्ण, भैषज्यरत्नावली का प्रसिद्ध योग है। और प्रयोग भी भृङ्गराज के नाम से देखने में आते हैं। इसका एक कल्प काक-चण्डीश्वरकल्पतन्त्र में भी भृङ्गराजकल्प के नाम दिया है। भृङ्गराज के लिये ही नहीं; परन्तु प्रायः अधिक वनस्पतियों के लिये यह एक विचारणीय विषय है कि किस रोग में कौन सा निश्चितद्रव्य ग्रहण किया जावे। इस पर भिन्न भिन्न अन्वेषण की अत्यन्त आवश्यकता है। आजकल तो सभी योगों में प्रायः निःसंकोच श्वेत भृङ्गराज को ले लेते हैं क्योंकि यह आसानी से प्राप्त हो जाता है। बड़े हर्ष की बात है कि आज कल इस पर वैज्ञानिक लोग अन्वेषण कर रहे हैं। परन्तु वह अपने ढंग से कर रहे हैं। हमें तो आवश्यकता है कि इसकी खोज आयुर्वेद के ढङ्ग पर हो जिससे हमारी यह असुविधा दूर होसके।



फूल-गेंदा अनेक रोगों की दवा है—

यदि कोई अङ्ग कट गया हो, रक्तप्रवाह चल रहा हो, तो 'फूल-गेंदा' की पत्तियों का रस निचोड़ कर लगाओ, तुरत रक्त-प्रवाह बन्द हो जायगा। क्षत-स्थान में पीड़ा भी न रहेगी और वह पक भी नहीं सकता। इसी प्रकार विषाक्त एवं भयानक फोड़ों पर गेंदे का मलहम लगाना चाहिये। घी में गेंदे की पत्तियों को मल कर यह मलहम बनाया जाता है। यदि मलहम में 'बोरिक एसिड' मिला दिया जाय तो कोई हानि नहीं, और न मिलाने से भी कोई त्रुटि नहीं। पीठ या गरदन के बड़े फोड़े पर गेंदे की पोलटिस लगानी चाहिये। आटा या सूजी में गेंदे की पत्तियाँ मिलाकर पुलटिस बनाओ और आग पर गरम करके झट लगा दो। गरम पुलटिस ही लाभदायक है। कारबङ्कल तक में इससे लाभ होते देखा गया है। खूनी बवासीर में गेंदे की पत्तियों का रस थोड़ी चीनी डालकर पीओ, खून का आना रुक जायगा, दर्द कम हो जायगा। विषैले फोड़ों को गेंदे की पत्तियों के साथ उबाले हुए गरम जल से धोया करो, आशातीत लाभ होगा। मूत्र-सम्बन्धी रोगों में गेंदे के फूल का काढ़ा अभीष्ट फलदायक है। दो तोला फूल, ४० तोला पानी। जब १० तोला पानी बच जाय, तब उसी काढ़े में थोड़ा शिलाजीत मिलाकर पीओ। मूत्रसम्बन्धी क्लेश वा प्रपीडन शीघ्र शान्त हो जायगा। गेंदे की हरी-हरी पत्तियों का ताजा रस पीने से सूजाक के रोगी भी आराम हो जाते हैं। धातुक्षीणता और स्वप्नदोष को रोकना हो तो गेंदे के एक फूल

के बीजों में से दो या चार आना भर लेकर थोड़ी चीनी के साथ खाया करो, अवश्य लाभ होगा। दाह-शमन, रक्तसंचार, व्रणशोधन, कीटाणुमर्दन आदि में यह अद्-भुत प्रभाव दिखाता है।

—'अमृतबाजार पत्रिका' (कलकत्ता)।

हजार दाना—

अभी संसार में ऐसी अनेक वनौषधियाँ हैं जिनका परिचय प्राप्त नहीं किया गया था। अन्वेषण करने पर पञ्जाब के जङ्गलों में एक ऐसी वनौषधि प्राप्त हुई है जिसे उस देश में हजारदाना कहते हैं। यह तृण जाति की वनौषधि है। इसका पौदा तीन से पाँच इञ्च तक शलाकाकार होता है। इसके पत्र सूचिकाकार और सूक्ष्म होते हैं। प्रत्येक ग्रन्थि के शिखर पर बाजरे के दाने के ऐसा बीज लगा रहता है। बीज बीच से थोथा होता है, दबाने से टूट जाता है। इसके पुष्प देखने में नहीं आते। अमृतसर आदि स्थानों से जो वनस्पति हमें प्राप्त हुई है वैसा अन्य पौदा अभीतक हमें नहीं मिला। यदि किसी सज्जन को इसका पता लगे तो वे कृपया मेरे पास या चरक-अनुसन्धान-भवन में भेजने की कृपा करें। प्राप्त हजारदाने का नमूना चरक-अनुसन्धान-भवन में रखा है जो सज्जन चाहें मँगा कर देख सकते हैं।

इस औषधिका उपयोग—इक्षुमेह का उपद्रव, तृषा, दाह और क्षुधाधिक्य में एक तोला घोटकर पिलाने से ये सब उपद्रव शान्त होते हैं। हम इसका कई बार प्रयोग करके परीक्षा कर चुके हैं। जिसे मँगाना हो, मुझसे या वनौषधि-कार्यालय से मँगालें। मेरे पास अभी आधसेर शेष है।

—प्रतापसिंह कविराज,
औषधालय, हिन्दूविश्वविद्यालय, काशी।

बसन्तोत्सव कैसे मनाना चाहिये—

बसन्तोत्सव में हमारे समस्त देश में स्वरमय सुन्दर सङ्गीत, चित्रकला की प्रदर्शिनी, अच्छे-अच्छे कवियों पर समालोचनात्मक प्रबन्ध और उनके काव्यों का पाठ, प्रकृति से प्रेम उत्पन्न करनेवाले निबन्ध, बाहर जङ्गलों में रङ्गमञ्च बनाकर एक या दो अङ्कों के छोटे छोटे विनोदपूर्ण नाटकों को खेलना, व्यायाम आदि प्रदर्शन इत्यादि का ऐसा आकर्षक, मनोहर और चिर-स्थायी प्रभाव उत्पन्न करनेवाला प्रोग्राम होना चाहिये जिससे हमारी जाति के कलामय जीवन की झलक इस बसन्तोत्सव में दिखलाई पड़ सके। प्रत्येक स्थान पर इस उत्सव के समय विशेष रूप से स्वास्थ्योपयोगी ट्रैक्ट म्यूनिसिपैलिटी या सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा निर्धन जनता में बिना मूल्य वितीर्ण किये जायँ, जिनमें स्वास्थ्यरक्षा के मोटे-मोटे सिद्धान्त अपनी प्रान्तीय भाषाओं में सरल, विस्तारपूर्वक समझाये गये हों; क्योंकि आजकल मुख्यतया भारतवर्ष में स्वास्थ्यरक्षा के नियमों की अज्ञानता से भारतीयों का स्वास्थ्य बड़ी भयङ्कर रीति से गिर रहा है, जिसका प्रतिकार राष्ट्र के लिये अत्यावश्यक है। यदि हो सके तो मैजिक लैण्टर्न द्वारा रात्रि को शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग पर मद्य, तम्बाकू आदि का प्रभाव, तथा गन्दगी से उत्पन्न जीवाणुओं का मनुष्यशरीर पर आक्रमण आदि दिखाकर उपदेश दिया जाय। इस विधि से थोड़े से ही खर्च और समय में अधिक जनता को शिक्षा मिल सकती है।

—'विशालभारत' (कलकत्ता)।

प्रकृति का कौशल—

सर्जरी (चीर-फाड़) विद्या खूब उन्नति पर पहुँचती जा रही है, फिर भी अभी वह अपूर्ण ही है! अलबर्ट

जॉनसन जिसकी उम्र इस समय ४६ वर्ष की है, जब १२ वर्ष का था तब उसकी छाती में एक गोली प्रविष्ट हो गई थी ! जिस व्यक्ति ने गोली चलाई थी उसका आजतक पता नहीं चला और न गोली का ही उसके शरीर में पता लगा था ! सर्जनों ने बड़े प्रयत्न से गोली निकालना चाहा पर उसका ठीक स्थान ही न मिलता था। एक दिन अलबर्ट को जोर से खाँसी आई, इतने जोर से कि वह घबरा उठा ! थोड़ी देर में उसने देखा कफ के साथ 'गोली' बाहर निकल पड़ी है ! जिसे सर्जनों का कौशल बाहर न निकाल सका, उसे प्रकृति ने बाहर निकाल दिया। सच पूछा जाय तो प्रकृति ही मनुष्य को स्वस्थ बनाती है।

—'स्वराज्य' (खण्डवा)।

नाखून से स्वास्थ्य परीक्षा-

मनुष्य का स्वास्थ्य अच्छा है या बुरा है, यह उसके शरीर के रङ्ग-रूप, गठन और अङ्ग प्रत्यङ्ग के विकास से जाना जा सकता है। पुराने जमाने के वैद्य लोग नाड़ी परीक्षा के साथ नख परीक्षा भी करते थे। जिगर की बीमारी का असर नाखून के रङ्ग पर पड़ता है। नाखून से मनुष्य की शक्ति का परिचय मिलता है। हाल में फ्राँस के डाक्टर जोलर, डा० नोयर और डा० वोइड ने १२०० मनुष्यों की परीक्षा की है। उनमें रोगी, रोग मुक्त तथा पूर्णतया हृष्ट-पुष्ट—सब तरह के लोग थे। डाक्टरों का कहना है कि मनुष्य के हाथों के नाखूनों की जड़ में जो सफेद चन्द्राकार निशान होता है वह स्वास्थ्य का परिचायक है। पूर्ण स्वस्थ व्यक्तियों के दस में से आठ नाखूनों में जरूर ही यह निशान होता है। जैसे ही मनुष्य के शरीर रोगी होते हैं वैसे ही ये चन्द्राकार चिह्न घटने अथवा मिटने लगते हैं। इसके अलावा चूंकि जाड़े और बसन्त ऋतु में मनुष्य का स्वास्थ्य अधिक अच्छा होता है इसलिये ये सफेद चन्द्राकार चिह्न अधिक बड़े और साफ हो जाते हैं।

सादे जल से नशा।

आवश्यकता से अधिक सादा पानी पीने पर नशा होता है, यह बात शायद पाठकों को नहीं मालूम। वाशिंगटन के 'साइन्स न्यूज बुलेटिन' नामक पत्र ने लिखा है कि सादे पानी से नशा होता है यह बात पाठकों के लिये असम्भव सी मालूम होगी; पर बात असल में असम्भव नहीं है। कितने ही प्यासे को अधिक परिमाण में जल पिलाकर देखा गया है कि ज्यादा पानी पीने से उनके सिर में दर्द हो जाता है, वमन होने लगता है, पेशियों में शिथिलता आ जाती है। ज्यादा पानी पीने के कारण न तो वह मनुष्य खड़ा हो सकता है, न आसानी से चल फिर सकता है, अर्थात् शराब पीने पर शराबी की जो हालत हो जाती है, वही हालत अधिक पानी पीने वाले की भी होती है। तीन-चार घण्टे तक यह नशा रहता है। मनुष्यों के सिवा कुत्ते, खरगोश और बिड़ाल को भी ज्यादा पानी पिलाकर परीक्षा करने पर ऊपर की बात सच्ची साबित हुई है; इसलिये ज्यादा पानी पीना उचित नहीं है।*

—शिक्षा (पटना)।

---

* हमारे भारतीय आयुर्विज्ञान में भी अधिक जल पीना मना किया गया है। 'मुहुर्मुहुर्वारि पिबेदभूरि'।—सं०



क्षयरोग

प्रथमभाग—लेखक—शङ्करलालगुप्त एम० बी० बी० एस० सुपरिन्टेन्ट यू० पी० जेल सेनोटोरियम सुलतानपुर, (अवध)।

प्रकाशक—हिन्दी मन्दिर। मूल्य ६)। पृष्ठ-संख्या ४३२। चित्रसंख्या ११५। छपाई सफाई नयनाकर्षक।

विज्ञान किसी देश या व्यक्ति की बपौती नहीं है। विज्ञान चरक के शब्दों में 'यः परीक्षकैर्बहुविधं परीक्ष्य हेतुभिः साधयित्वा स्थाप्यते' का प्रत्यक्षरूप है। यह प्रत्येक विद्यानुरागियों की जन्मजात सम्पत्ति है। यह अखिल विश्व के कल्याणार्थ ईश्वरीयप्रेरणा का सात्म्य-सौरभ है। किन्तु जिस समय हमारा मन रागद्वेष के आवरण से मलिन रहता है उस समय हम विज्ञान को एक देशीय वस्तु मान कर उससे घृणा ही नहीं करते; किन्तु उसको त्याज्य भी समझते हैं। आज अधिकतर हमारे मध्यपठित-प्राणाचार्यों की यही दशा है। इस बीसवीं सदी में जब चिकित्सकों का एक दल राजयक्ष्मा के जीवाणुओं का कृत्रिम सम्बर्द्धन कर उन्हें पीस कर बार बार चूर्ण बनाता और बार बार धोकर 'न्यू ट्यूबरक्यूलीन' बनाता है, तब दूसरा दल अभी राजयक्ष्मा जीवाणुओं का अस्तित्व ही नहीं मानता। इसका एक मात्र कारण है—हिन्दी भाषा में उपयोगी और नवीन वैज्ञानिक—अन्वेषण साहित्य का अभाव! प्रस्तुत पुस्तक जिसकी समालोचना की भूमिका में मुझे इन उपर्युक्त पङ्क्तियों को लिखना पड़ा है, हिन्दी साहित्य के इस अभाव का सर्वाङ्गपूरक है। राजयक्ष्मा जैसे व्यापक एवँ चिरकारी रोग पर इतनी बड़ी पुस्तक हिन्दी साहित्य में अभी तक नहीं थी। इसमें अत्यन्त सूक्ष्म बातें भी जिन्हें प्रोफेसर पढ़ाते समय उपेक्षा कर देते हैं और जिनकी पदे पदे आवश्यकता पड़ती है, पूर्ण विस्तार एवँ सरलभाषा में लेखक ने समझाने का प्रयत्न किया है। बहुत विषय तो ऐसे आगये हैं जो न केवल राजयक्ष्मा में ही अपितु सम्पूर्ण रोगों में सर्वदा काम देने वाले हैं 'षड्विधो हि रोगाणां विज्ञानोपायः पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन च' धन्वन्तरि के इस सूत्र का पूर्व ज्ञान एवं पालन, पाठक इसमें रोग परीक्षा में ही नहीं देख सकते बल्कि अन्य रोगों में भी उनमें लिखे सिद्धान्तों के अनुसार स्वयं परीक्षा करने में समर्थ हो सकते। पुस्तक को अद्यान्त देखनेपर कहीं कहीं छोटी छोटी त्रुटियाँ नहीं के बराबर जँचती हैं। इसमें केवल चिकित्सकों के लिये ही नहीं किन्तु, अपने शरीर पर ध्यान रखनेवाले प्रत्येक पठित मनुष्य के लिये पूर्ण पठनीय, मननीय और नितान्त उपयोगी ज्ञान का भण्डार है।

अगर लेखक इसमें आयुर्वेद के प्राचीन सँहिताओं के सूत्रों पर पूर्ण विचार करते हुए एक उपयोगी तुलनात्मक निबन्ध लिखकर इसके साथ मिला दें तो इसका एक देशीयत्व भी चला जाय और जनता के लिये पूर्ण उपयोगी ही नहीं; अपितु चिकित्साजगत् एक स्वर से बोल उठे की राजयक्ष्मा पर 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्' अन्तमें प्रकाशक और लेखक को इस सफलता के लिये धन्यवाद देते हुए रायबहादुर डा० बी० एन्० के० व्यास के इस वाक्य का हृदय से समर्थन करता हूँ कि 'यह पुस्तक सर्वथा इस योग्य है कि सरकार तथा हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन नागरी-प्रचारिणी-सभा आदि इसको पूर्णतया अपनावें और ग्रन्थकार के उत्साह को बढ़ावें।' —त्रिवेदी।

वनस्पति विज्ञान

लेखक—पं० हनूमानप्रसाद वैद्यशास्त्री । प्रकाशक-नागेश्वर 'भारती', महाशक्ति साहित्य-मन्दिर, काशी । मूल्य—१॥) ।

इस पुस्तक के लेखक आयुर्वैदिक-जगत् के उत्साही और नवयुवक कार्यकर्त्ता हैं । आपने आहार विज्ञान, सुखी गृहिणी आदि कई पुस्तकें लिखी हैं । आप इस विषय की एक ग्रन्थमाला ही निकालते हैं । प्रस्तुत पुस्तक उसी माला का एक रत्न है । इसके दो भाग हैं । पूर्वार्ध में पञ्चतत्त्व, रसचिकित्सा का विकाश, चिकित्साशास्त्र की पूर्णता आदि कुछ निवन्ध विचारपूर्ण और अच्छे हैं । उत्तरभाग में लगभग एकसौ वनौषधियों का परिचय और भिन्न भिन्न रोगों पर उनके प्रयोग दिये गए हैं । इसमें प्रयोगवाला अंश यदि परीक्षित हो तो पुस्तक प्रत्येक गृहस्थ के लिये आवश्यक और संग्राह्य है।

परिचयांश सन्तोषजनक नहीं है। इसमें जिन वनौषधियों का परिचय दिया गया है, उनमें कुछ ऐसी हैं जिनपर अधिक प्रकाश डालने की आवश्यकता थी । पुस्तक लेखन में जिस शङ्कर शास्त्री दाजी पदे की 'आर्य-भिषक्' नामक पुस्तक के गुजराती भाषान्तर से सहायता ली गयी है, सम्भवतः उस पुस्तक में उतना ही परिचय दिया गया है । लेखक यदि इस परिचय में अन्य पुस्तकों की सहायता भी लेते तो परिचय अधिक उपादेय होता । लेखक के मत में विज्ञान शब्द का अर्थ विशिष्टज्ञान है । परन्तु इससे उनके स्वरूप का विशिष्ट ज्ञान नहीं हो पाता फिर भी पुस्तक उत्तम और उपादेय है ।

हाँ, इसमें एक बात और भी खटकती है वह है वनस्पतियों का समुचित वर्गीकरण । लेखक महोदय यदि पहिले वनौषधि के भिन्न भिन्न—वनस्पति, लता, गुल्म, क्षुप, तृण आदि—पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करके उन्हीं का प्रयोग करते तो अच्छा होता। जैसे 'कुकरौंदा का पेड़'; 'गूमा का वृक्ष', 'ब्राह्मी का वृक्ष', 'सरफोंका का वृक्ष', इत्यादि गुल्म, क्षुप, तृण आदि सभी को पेड़ या वृक्ष कहने से वे बड़े बड़े से मालूम होते हैं । इसी प्रकार शतावर की लता प्रसिद्ध है परन्तु इसमें लिखा है 'सतावर का वृक्ष दो-तीन फीट ऊँचा होता है ।' इस प्रकार की कुछ त्रुटि अगले संस्करण में दूर हो सकेंगी । पुस्तक की छपाई-सफाई आदि उत्तम होने पर भी मूल्य कम करने की गुञ्जाइश है ।

—× × ×

आयुर्वेद-सम्मेलन : सभापति का भाषण

निखिल भारतीय आयुर्वेद सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन सिन्धप्रान्त के प्रसिद्ध नगर शिकारपुर में हुआ । सभापति थे—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के औषधालयाध्यक्ष कविराज प्रतापसिंह रसायनाचार्य । साथ ही अन्यान्य वनौषधि-सम्मेलन आदि भी हुए । जिनमें कलकत्ते के प्रसिद्ध आयुर्वेदाचार्य पं० भगीरथ स्वामी, अमृतधारावाले पं० ठाकुरदत्तशर्म्मा और पं० शिवशर्म्मा थे । सम्मेलन में सफलता हुई या नहीं; देखनेवाले जान सकते हैं । सभापति महोदय का भाषण आधुनिक प्रगति की दृष्टि से महत्वपूर्ण है । यदि भविष्यत् के लोग उसकी एक एक शाखा को लेकर कार्यक्षेत्र में उतर पड़ें तो सचमुच बड़ा काम हो सकता है । चरक-अनुसन्धान-भवन की स्थापना इसी प्रकार के विचारों का परिणाम है । हम, भाषण का सादर स्वागत करते हैं ।

आयुर्वैदिक जगत्

गया में बिहार-प्रान्तीय-आयुर्वेदोपकारिणी महासभा।

बिहार-प्रान्तीय-आयुर्वेदोपकारिणी महासभा का चतुर्थ अधिवेशन इस वर्ष गया में होना स्थिर हुआ है। गत ११-१२-३३ को—'आदर्शभवन' में गया के प्रमुख वैद्यों और आयुर्वेद प्रेमियों की एक बृहद् 'सभा हुई। जिसमें स्वागतकारिणी समिति का सङ्गठन और पदाधिकारियों का चुनाव हुआ। महाराजा बहादुर श्रीमान् हरिहरप्रसाद नारायण सिंह ओ० वी० ई० टिकारी और अमावां राज्येश स्वागत-कारिणी के प्रधान सभापति तथा श्री पण्डित राधारमण शर्मा शास्त्री, साहित्य-भूषण, काव्यतीर्थ प्रधानमन्त्री निर्वाचित हुये। सहायक मन्त्री पण्डित सौरेशचन्द्र गुप्त शर्मा कविविनोद (ढाका आयुर्वेदीय फार्मेसी की गया शाखा के चिकित्सक), पण्डित यदुनन्दन पाठक आयुर्वेदाचार्य, तथा पं० रामनन्दन पाठक वैद्यभूषण, बनाये गये। कार्य को सुचारु-रूप से सम्पादित करने के लिये अर्थसमिति, पण्डाल और स्वयंसेवक-समिति, भण्डार-समिति, वस्तुसंग्रह-समिति के नाम से चार उप-समितियाँ भी बना दी गईं। जिनके संयोजक क्रमशः आयुर्वेदाचार्य पं० श्री गङ्गाधर शर्मा काव्यतीर्थ, पं० श्री बजरङ्गदत्त शर्मा, पं० रामप्रसाद मिश्र कन्दौल तथा बाबू धर्मनाथ सहाय निर्वाचित हुये। अधिवेशन बड़ी ही धूमधाम से मार्च महीने में होगा। इस सम्बन्ध की सभी सूचनायें यथासमय प्रकाशित होती रहेंगी। इस सम्बन्ध का सारा पत्र-व्यवहार निम्न पते से करना चाहिये।

—श्री राधारमण शर्मा शास्त्री, काव्यतीर्थ,
आदर्श भवन, गया।

बङ्गीय-वैद्य-सम्मेलन

मार्च के अन्तिम सप्ताह में कलकत्ता में बङ्गीय-वैद्य-सम्मेलन समारोह के साथ सम्पन्न हुआ। सभापति थे—भारत-प्रसिद्ध कविराज श्यामादासजी वाचसपति। स्वागताध्यक्ष भी वैसे ही थे-महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन सरस्वती। विशिष्ट सज्जनों में डा० सर प्रफुल्लचन्द्र राय और कलकता के लार्ड मेयर वसु भी उपस्थित थे। मेयर ने वैद्यों का सादर स्वागत किया और स्वागताध्यक्ष ने कहा कि 'जिस स्वदेशी में स्वदेशी औषधि नहीं है, वह स्वदेशी, स्वदेशी नहीं कहा जा सकता।' सचमुच यह अत्यावश्यक और महत्वपूर्ण बात है।

चन्द्र औषधालय का वार्षिकोत्सव।

मिर्जापुर में विगतवर्ष से स्थापित चन्द्र औषधालय का वार्षिक उत्सव हुआ, उत्सव प्रभावशाली रहा। सभापति थे मिर्जापुर के जज श्रीयुत् पण्डित राजराजेश्वरी प्रसाद भार्गव। उत्सव में मिर्जापुर के सभी प्रतिष्ठित और शिक्षित नागरिकों की उपस्थिति अच्छी थी। आयुर्वेद के सम्बन्ध में बड़े ही प्रभाव पूर्ण और हृदयङ्गम भाषण हुए। अन्त में सभापति महोदय ने कहा कि 'आयुर्वेद भारत का महत्वपूर्ण विज्ञान है'। लोग इससे दूर होते जा रहे थे—लेकिन अब इसकी उन्नति होने की पूर्ण आशा है। इस विषय में हिन्दू-विश्व-विद्यालय ने प्रशंसनीय कार्य किया है। जनता का इस ओर ध्यान होना अत्यावश्यक है। इसके बाद बैरिस्टर यूसुफ इमामने अपने भाषण में आयुर्वेद के महत्वपर बहुत हर्षप्रकट किया।

औषधालय के अध्यक्ष पं० चन्द्रदत्तशास्त्री हिन्दू-विश्व-विद्यालय के सुयोग्य और उत्साही आयुर्वेदाचार्य हैं।

—एक दर्शक।

मन्तव्य

आयुर्वेद के उद्धारक नवयुवक हैं !

आयुर्वेद हमारे देश का वह उन्नत विज्ञान है जिसका सम्बन्ध प्राणिमात्र के जीवन से है। कुछ सदियों के पहिले भारत का आयुर्विज्ञानशास्त्र प्रत्यक्षरूपेण या अप्रत्यक्षरूपेण समस्त सभ्य-जगत् के जीवन का परिपोषक था। आज कुछ ही वर्षों में उसका अस्तित्व भी सन्देहास्पद हो गया। अर्थात् हमने अपने जीवन-मृत्यु के प्रश्न को भी दूसरों के हाथ दे डाला। संसार में भारत ही एक ऐसा असभ्य और पतितदेश समझा जाता है जो अपनी जड़ में अपने हाथों कुल्हाड़ी मारकर मरजाने में अपना गौरव और अपनी शान समझता है। भारत के शिक्षित, उनकी देखादेखी अर्द्धशिक्षित, भारतीय-संस्कृति, सभ्यता, साहित्य, विज्ञान और भारतीय मान-मर्यादा को घृणा की दृष्टि से देखने में और विदेशीय घृणित से घृणित वस्तु को (यूज) उपयोग करने में अपना गौरव समझते हैं। ऐसे देश में स्वतन्त्रता, स्वाभिमान या स्वराज्य का स्वप्न देखना भी भूल है। जर्मन या फ्रेञ्च, इङ्गलैण्ड की भाषा या वस्तु को लेना पाप समझता है, जापान जर्मन का अनुकरण करनेवाले को दण्डित कर सकता है, लेकिन भारत में अस्पताल का कम्पाउण्डर आयुर्वेदिक स्वदेशी औषधि के व्यवहार द्वारा लाभ करने पर नौकरी से छुड़ा कर दण्डित किया जा सकता है।* विदेशियों के सङ्ग से हमारी कामनाएँ बढ़ीं, काम से क्रोध, क्रोध से मोह, मोह से बुद्धिभ्रंश और अन्त में 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'। इस प्रकार भारतीय समाज इस रोग की तृतीयावस्था पर आपहुँचा है। जिसके ये सब प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

इधर रोगी की तो यह अवस्था है, उधर हमारे वैद्यों को इसकी कुछ खबर ही नहीं। हमारे वैद्यों में अधिकांश तो केवल अपढ़ ढोंगी या आतुर जनता को लूटकर अपने स्वार्थसाधनमात्र ही में कृतकृत्य हैं। कुछ पढ़े लिखे वैद्य धनचिन्ता के साथ ही साथ शुष्क और विनाशकारी अभिमान में ऐसे चूर हैं कि उन्हें देश के भूत-भविष्यत् का तनिक भी ध्यान नहीं है, वे अपने अभिमान और आडम्बर के मारे इस आयुर्विज्ञान की समुन्नति, विशिष्ट अध्ययन या अन्वेषण में असमर्थ हैं। यदि कुछ लोग इस ओर ध्यान आकृष्ट करने और आगे बढ़ने का प्रयत्न करते हैं तो स्वार्थान्ध चिल्ला उठते हैं और उन्हें मूर्ख मूर्ख कहकर विघटित करने वा विरोध करने में ही अपना गौरव और महत्व समझते हैं।

तीसरे शासकगण इस भारतीय अक्षय-ज्ञान-निधि से उपयोगी रत्नों को प्राप्तकर हमें उस ओर देखने भी नहीं देना चाहते। हमारे पास भी इतने साधन या इतनी शक्ति नहीं है कि उन्हें इस कृत्य से रोकने में समर्थ हो सकें।

देश के नेता, राजा, महाराजा, धनी सभी पाश्चात्य चिकित्सा-प्रणाली को अपनाने में अपनी शान और अपना मान समझते हैं। ऐसी स्थिति में आयुर्वेद की उन्नति आशा एकमात्र देश के उन स्वदेशप्रेमी और त्यागशील युवकों से ही कुछ की जा सकती है। जिस प्रकार देश के अन्यान्य क्षेत्रों में युवक तेजी से प्रगतिशील हो रहे हैं, वैसे ही आयुर्विज्ञान के अध्ययनशील छात्रों से ही यह आशा की जा सकती है कि वे पुनः इस विज्ञान को देशकालोपयोगी बनाकर अपने देशका जीवन और स्वास्थ्य अपने हाथों में कर सकेंगे। अन्यथा अन्य किसी से अब आशा नहीं की जा सकती।

* अभी हाल ही में सिलचर (आसाम) के एक हास्पिटल के कम्पाउण्डर ने विमार होने पर आयुर्वैदिक चिकित्सा से अपने को स्वस्थ कर लिया इस भयानक अपराध के दण्ड-स्वरूप उसे अपनी नौकरी से हाथ धोना पड़ा। —सम्पादक

डिजिटेलिस (हृत्पत्रिका)



देखिये—
प्रथम संख्या
पृष्ठ—२०

हजार दाना



देखिये—
द्वितीय संख्या
पृष्ठ—६०

लेख-सूची

१—आयुर्वेद और भारतीय वनस्पति शास्त्र ६६
प्रोफेसर बलवन्तसिंह, एम० एस-सी०

२—अब क्या होगा राम ? ७०
श्री चन्द्रशेखर त्रिवेदी, आयुर्वेदाचार्य ए० एम० एस०

३—तुलसी (शेषांश) ७२
श्रीयुत रूपलाल वैश्य, सम्पादक 'बूटीदर्पण'

४- गोबर की राम कहानी (शेषांश) ७७
श्रीयुत शिवपूजन सहाय, हिन्दीभूषण

५—कस्तूरी मृग ७८
प्रोफेसर धीरेन्द्र किशोर, एम० एस० सी०

६—विल्वपत्र ८०
श्रीयुत राजा शशिशेखरेश्वर देव शर्मा, रायबहादुर

७—गृञ्जन क्या है ? ८३
श्री केदारनाथ शर्मा, सम्पादक 'सुप्रभातम्'

८—वनौषधि का महत्व ८६
श्रीयुत पं० बदरीनाथ जी वैद्य, आयुर्वेद-पञ्चानन

९—यकृत् के कार्य ८८
श्री चन्द्रदत्त त्रिपाठी शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य

१०—कर्णिकार में भारी भूल ९०
प्रोफेसर भगीरथ स्वामी, आयुर्वेदाचार्य, रसायनशास्त्री

११—पुष्पस्तवक ९१
बाँस की उपयोगिता—श्री शिवपूजन सहाय
सौन्दर्य प्राप्ति के सरलसाधन—'सहेली' से

१२—आयुर्वैदिक जगत् ९३

१३—जिज्ञासा ९५
प्रोफेसर भगीरथ स्वामी, मदनगोपाल शर्मा, एक जिज्ञासु

१४—अभिमत ९६
श्री बलदेवप्रसाद गौड़ और सम्पादक

वनौषधि के नियम-ग्राहकों के लिये

१—वनौषधि प्रति सौर मास के अन्त में प्रकाशित होती है। इसका वार्षिक मूल्य तीन रुपये हैं। केवल आयुर्वैदिक कालेजों एवं पाठशालाओं के छात्रों को अढ़ाई रुपयों में दी जाती है। किन्तु उन्हें अपने अध्यापकों से प्रमाणित करना होगा। नमूने के लिये पांच आने का टिकट भेजना चाहिये।

२—पत्रिका यदि सौर मास के प्रथम सप्ताह में न मिले तो ग्राहकों को कार्यालय में सूचना देनी चाहिये। सूचना देने के समय अपने पोस्टआफिस से जांच करा लेनी चाहिये।

३—पत्र लिखने के समय ग्राहक संख्या अवश्य लिखनी चाहिये, अन्यथा पत्र का उत्तर न दिया जायगा।

४ मनिआर्डर भेजने के समय कूपन पर अपना पूरा पता स्पष्ट अक्षरों में लिखना चाहिये। वी० पी० का आर्डर समझ बूझ कर देना चाहिये ताकि वी० पी० लौटाने की आवश्यकता न पड़े।

५—नियम तथा विज्ञापन सम्बन्धी पत्रव्यवहार व्यवस्थापक—चरक-अनुसन्धान-भवन, (प्रकाशन विभाग) काशी के पते से करें।

लेखकों के लिये

१—'वनौषधि' के लिये लेख उद्देश्यानुकूल और संक्षिप्त एवं सरल भाषा में होना चाहिये।

२—स्पष्ट अक्षरों में हासिया छोड़ कर दूर दूर लिखना चाहिये। अन्यथा उनके प्रकाशन में असमर्थता होगी।

३—सचित्र लेखों के लिये चित्र का प्रबन्ध लेखक को करना होगा। चित्र का व्यय कार्यालय दे सकता है।

४—लेख प्रामाणिक, पूर्ण और संक्षिप्त होना चाहिये। इधर उधर से कांटे छांटे लेखों की ठीक ठीक सूचना देनी चाहिये।

५—लेखों के प्रकाशन या अप्रकाशन, लौटाने न लौटाने, कांटने छांटने, या घटाने बढ़ाने का अधिकार सम्पादक को होगा। पत्र व्यवहार के लिये टिकट आना आवश्यक है।

६—समालोचनार्थ पुस्तकें और बदले के पत्र "सम्पादक—वनौषधि, चरक-अनुसन्धान-भवन, काशी" के नाम से आने चाहियें।

प्रथम वर्ष

तृतीय संख्या



सौर वैशाख
१९९१
अप्रल
१९३४

सचित्र मासिक-पत्रिका

आयुर्वेद और आधुनिक वनस्पतिशास्त्र

प्रोफेसर बलवन्तसिंह, एम० एस्-सी०

एक अबोध बालक संसार की वस्तुओं का ज्ञान दो तरह से प्राप्त करता है । धधकती हुई अग्नि की ज्वाला को देखकर उसके हृदय में भय का सञ्चार नहीं होता। उसके निकट जाने से उसे किसी प्रकार के अकल्याण की आशङ्का नहीं होती । तप्त, रक्तवर्ण अङ्गारे में भयानकता के स्थान पर वह एक अद्भुत आकर्षण का अनुभव करता है । उसके समीप जाकर उसके साथ खेलने के लिये वह व्यग्र हो उठता है। जिस उत्सुकता के साथ पतङ्ग दीपशिखा के पास दौड़ता है, उसी उत्सुकता के साथ बालक भी अङ्गारे की ओर झपटता है। अन्तर केवल इतना ही है कि, बालक के लिये अङ्गारे का आकर्षण क्षणिक होता है, परन्तु दीपशिखा का आकर्षण पतङ्ग की मृत्यु के साथ ही मिटता है । बालक की जिज्ञासावृत्ति प्रथम ही बार अनुभूति से तृप्त हो जाती है। अङ्गारे का स्पर्श करते ही बालक उसमें असह्य उष्णता का अनुभव कर अपना हाथ खींच लेता है और चिल्लाकर मानों वह अपने परिजनों को अग्नि के भयानक दोष का परिचय करा देता है। इसी तरह वह प्रत्येक वस्तु की, जो उसके सामने आती जाती है, परीक्षा करके उसके गुणदोष का ज्ञान प्राप्त करता रहता है। दूसरी तरह से भी उसे वस्तुओं का ज्ञान होता है।

यदि किसी बच्चे के सामने साँप आ जाता है, तो वह उसे भी पकड़ना चाहता है। उस समय उसके सम्बन्धी दौड़ कर उसे उठा लेते हैं और साँप को मार डालते हैं। हानि पहुँचानेवाली वस्तुओं के पास जाने से वह बार-बार रोका जाता है, जिससे कुछ समय के बाद वह

समझने लगता है कि सम्भवतः इन वर्जित वस्तुओं से हमारा अकल्याण होता है। परन्तु इस प्रकार प्राप्त किये हुये वस्तुज्ञान से बालकों को सन्तोष नहीं होता, क्योंकि प्रायः देखा गया है कि उनको जिस बात के लिये मना किया जाता है उसे करने के लिये वे और व्यग्र हो जाते हैं और अवसर मिलने पर लुकछिप कर ही बैठते हैं। इससे स्पष्ट है कि उनकी जिज्ञासा शुद्ध वैज्ञानिकता के भाव से भरी रहती है। दूसरों के द्वारा प्राप्त किये हुये ज्ञान पर अन्धविश्वास कर लेना उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति के विरुद्ध है। ठीक इसी तरह सृष्टि के आदि में उत्पन्न होने वाले प्राणियों को भी संसार की वस्तुओं का ज्ञान हुआ होगा। सृष्टि की उत्पत्ति चाहे विकासवाद (Evolution Theory) के अनुसार हुई हो, चाहे विशिष्टोत्पत्तिवाद (Especial Creation Theory) के अनुसार, प्रारम्भिक जीवों को अपने ही अनुभवों पर भरोसा करना पड़ा रहा होगा। यदि यह कहा जाय कि जीवोत्पत्ति के साथ-साथ किसी दैवीशक्ति के द्वारा जीवों को उस समय की वस्तुओं का ज्ञान करा दिया गया होगा, तो यह केवल एक निराधार, धार्मिक विश्वास की बात हो जायगी। विकासवाद एक वैज्ञानिक और बुद्धिसङ्गत (Rational) सिद्धान्त है। इसके अनुसार जीवों का विकास उनके वस्तुज्ञान की वृद्धि के साथ साथ होना प्रमाणित होता है। ज्यों-ज्यों उनका वस्तुज्ञान बढ़ता गया, त्यों-त्यों वे उनके बीच रहने के लिये अपने को योग्य बनाते गये। जीवनयुक्त सृष्टि में मनुष्य सबसे उत्कृष्ट प्राणी समझा जाता है, क्योंकि उसका वस्तुज्ञान सबसे ऊँचा है और संसार की वस्तुओं से सबसे अधिक लाभ वही उठाता है।

उक्त मतानुसार संसार की जितनी प्राचीन विद्यायें हैं, सभी मनुष्य के अनुभव से प्राप्त हुई हैं। यदि ईश्वर मनुष्य से भिन्न कोई शक्ति है तो कहना पड़ेगा कि हमारी कोई भी विद्या ईश्वरदत्त नहीं है। आयुर्वेद भी इन्हीं में से एक प्राचीन विद्या है। जिसे हमें मनुष्य की ही उपार्जित सम्पत्ति मानना पड़ेगा। चिकित्सा का प्रधान आधार औषधि है। मनुष्य का औषधिज्ञान उसके द्रव्यज्ञान के साथ साथ हुआ होगा। उसकी द्रव्य-ज्ञान प्राप्त करने की प्रवृत्ति उसके उत्पत्ति के साथ साथ हुई थी। अतः यह कहने में कुछ भी अत्युक्ति न होगी कि मनुष्य का द्रव्य-गुण-परिचय और द्रव्य-गुण-शास्त्र का निर्माण मनुष्य जाति की उत्पति के साथ ही साथ प्रारम्भ हुआ था। अब देखना यह है कि पहले पहल मनुष्यों को किस प्रकार का द्रव्य-ज्ञान हुआ होगा। जीवनयुक्त प्राणी के विकाश-क्रम पर दृष्टिपात करने से तो यही विदित होता है कि औषधि के लिये वनस्पतियों का ज्ञान उन्हें सर्वप्रथम प्राप्त हुआ होगा, क्योंकि प्राणी-मात्र का जीवन वनस्पतियों पर ही निर्भर है, क्षुद्र जन्तुओं की इसीसे उत्पत्ति भी वानस्पतिक द्रव्य के निकट अधिक होती है, इससे औरों के पहले वानस्पतिक पदार्थों का ज्ञान उनके लिये अधिक अभीष्ट और सरल रहा हो, इसमें भी कोई सन्देह नहीं मालूम होता। मनुष्यों को भी, जो इन क्षुद्र जन्तुओं के सर्वोत्कृष्ट विकास का प्रतिफल मात्र है, वनस्पति-ज्ञान पहले औरों की अपेक्षा अधिक हुआ हो, इसकी भी अधिक सम्भावना प्रतीत होती है।

प्राचीन चिकित्सा पद्धतियों में वानस्पतिक औषधियों (Vegetable Drugs) की प्रधानता का यही कारण मालूम होता है। ऋग्वेद से हो, जो सबसे पुराने ग्रन्थों में से है, औषधीय वनस्पतियों (Medicinal plants) का वर्णन मिलने लगता है। इसमें सोमलता तथा मनुष्य पर इसके प्रभाव की चर्चा की गई है। आयुर्वेद में, जो एक उपवेद माना गया है और जिस पर भारतवर्ष के प्राचीन चिकित्साशास्त्र की नींव

डाली गई थी, वानस्पतिक औषधियों की ही अधिकता है। उस समय यद्यपि अष्टाङ्ग आयुर्वेद में जीवन-विज्ञान और चिकित्सा की कला का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से परिचय करा दिया गया था, तथापि उसके बाद का, चरक, सुश्रुत, आदि मौलिक लेखकों तथा आविष्कारों का युग था, जिसे हम आयुर्वेद के उच्चतम विकाश का समय मानते हैं। उस समय की चरक की प्रसिद्ध कृति से वानस्पतिक औषधियों की प्रधानता स्पष्ट मालूम होती है। इसके बाद, जब रसायन-ज्ञाता चिकित्सकों (Chemist physician) की सहायता से आयुर्वेद और भी उत्कृष्ट श्रेणी का बनाया जा रहा था, सभ्य संसार के विद्वान् आयुर्वेद का अध्ययन करने के लिये यहाँ आते थे। इस समय भी एक अङ्गरेज विद्वान् का कहना है कि आर्यों का द्रव्यगुण-शास्त्र इतना सम्पन्न था कि रोम और ग्रीसवालों को इससे अपने अपने द्रव्य-गुण-शास्त्रों के बनाने में बड़ी सहायता मिली, उस समय के सम्पन्न द्रव्य-गुण-शास्त्र में भी वानस्पतिक औषधियों की ही प्रधानता थी।

जिन उपयोगी वनस्पतियों की जानकारी इतनी अधिक हो गयी थी, उनका अध्ययन क्या शुद्ध विज्ञान की दृष्टि से किया गया था ? इसका उत्तर देने के पहले शुद्ध और व्यावहारिक (Pure and Applied) का अर्थ समझ लेना आवश्यक है। प्रत्येक विज्ञान के दो पक्ष होते हैं, शुद्ध और व्यावहारिक ! शुद्ध विज्ञान का अध्ययन केवल विज्ञान के लिये होता है। इसका उद्देश्य नई घटनाओं तथा अज्ञात बातों की खोज करना है, चाहे मनुष्य-जीवन में उनकी कुछ भी उपयोगिता न हो। इसके विपरीत व्यावहारिक विज्ञान में उन घटनाओं तथा वैज्ञानिक सत्य का समावेश होता है, जो मनुष्य जीवन को सुखमय बनाने में भाग लेते हैं। व्यावहारिक विज्ञान का एकमात्र अभिप्राय मनुष्य के सुख साधनों को बढ़ाना और उनको उत्तरोत्तर पूर्ण बनाना होता है। पहले पहल विज्ञान की नींव उन एल्कीमिस्टों (Alchemists) द्वारा डाली गई थी, जिनका ध्येय सोना, खाना और जीव की सृष्टि करना था। उन्होंने विज्ञान को प्रारम्भ से ही व्यावहारिक रूप देना चाहा था, परन्तु इस तरह उन्हें सफलता न मिली। वर्तमान विज्ञान की वृद्धि वस्तुतः शुद्ध विज्ञान की वृद्धि से ही हुई है। आज तक जितने भी चमत्कारपूर्ण युगप्रवर्तक तथा मनुष्योपयोगी आविष्कार हुये हैं, वे सब शुद्ध-विज्ञान की ही सम्पत्ति हैं। यद्यपि आयुर्वेद के द्रव्य-गुण शास्त्र का प्रारम्भ शुद्ध वैज्ञानिक ढङ्ग पर हुआ था, तो भी हमें कहना पड़ेगा कि इसका पूर्ण विकाश तभी हुआ जब मनुष्य ने व्यावहारिक विज्ञान की तरह इसका स्वतन्त्र अध्ययन प्रारम्भ किया।

अतः यह स्पष्ट है कि यद्यपि आयुर्वेद का वानस्पतिक द्रव्य-गुण-शास्त्र प्राचीन समय में बहुत बढ़ा चढ़ा था, तथापि उस समय में आधुनिक वनस्पति-शास्त्र की तरह ऐसा कोई शास्त्र नहीं था, जिसमें वनस्पतियों का शुद्ध विज्ञान की दृष्टि से अध्ययन किया गया हो। वनस्पतियों की केवल उन्हीं बातों पर ध्यान दिया गया था, जो मनुष्य के लिये उपयोगी थीं। इतना अवश्य है कि उनका यह व्यावहारिक अध्ययन इतना विस्तृत रूप से किया गया था कि उससे वनस्पति जीवन के कुछ गूढ़ रहस्यों का ज्ञान होने लगा था। उपयोगी वानस्पतिक औषधियों का वर्गीकरण (Classification) प्राचीन ग्रन्थों में पाया जाता है, परन्तु यह वर्गीकरण आधुनिक, वैज्ञानिक वर्गीकरण से भिन्न है। आजकल का वैज्ञानिक वर्गीकरण विकासवाद के आधार पर किया गया है, जिससे उसके द्वारा वनस्पतियों का पारस्परिक सम्बन्ध (Blood relationship) व्यक्त होता है। आयुर्वेद में वर्गीकरण व्यावहारिक दृष्टि से किया गया

है, इससे स्वाभाविक न होकर कृत्रिम है। इसके वर्ग, फलवर्ग, पुष्पवर्ग, शाकवर्ग, कन्दवर्ग इत्यादि हैं। एक वर्ग के अन्दर प्रायः उन पौदों का स्थान है जिनका समान भाग प्रयोग में आता है। इसीतरह गोंदवाले, दुग्धयुक्त, सुगन्धयुक्त पौदे प्रायः भिन्न भिन्न वर्गों में विभक्त किये गये हैं, वर्गीकरण के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न पौदों के जन्मस्थान, उनके अनुकूल भिन्न-भिन्न परिस्थिति, उनके सङ्ग्रहकाल तथा सङ्ग्रहविधि आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है।

प्रत्येक बूटी के लिये यह बतलाया गया है कि उसे कैसी जमीन का होना चाहिये, उसे कैसे और कब लेना चाहिये, उसका कौन सा भाग काम में लाना चाहिये, इत्यादि। जैसे, वार्षिक (Annual) पौदों को बीज बनने के पहले, द्विवार्षिकों को (Binnials) वसन्त ऋतु में और बहुवार्षिक (Perennials) पौदों को पतझड़ के समय लेने के लिये बतलाया गया है। इसी तरह मूल जाड़े में, पत्तियाँ गर्मी में और छाल तथा लकड़ी को बरसात में पौदों से लेने के लिये कहा गया है। भिन्न-भिन्न औषधियों को चूर्ण, क्षार, अर्क, क्वाथ, तैल आदि भिन्न-भिन्न रूपों में जिनकी संख्या लगभग २६ के हैं, देने के लिये लिखा गया है। यदि आधुनिक वनस्पति-शास्त्र तथा रसायन-शास्त्र के अनुसार उपरोक्त बातों पर विचार किया जाय, तो उनमें अनेक के रहस्य समझ में आ जाते हैं और हमारे ऋषियों की महत्वपूर्ण और विस्तृत निरीक्षण-शक्ति का पता चल जाता है।

यदि वनस्पतियों का अध्ययन स्वतन्त्र-रीति से और विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से किया गया होता, तो निःसन्देह उसका परिणाम कुछ और ही होता। यदि आधुनिक वर्गीकरण की तरह उस समय भी वनस्पतियों का वर्गीकरण किया गया होता, तो कम से कम, इनके विषय में आज जो भयङ्कर सन्दिग्धता दिखाई पड़ती है, न होती। उनका निर्णयात्मक वर्णन ग्रन्थों में दे दिया होता। इसके न होने से आयुर्वेद की जो हानि हुई है, सभी पर विदित है। इसके अतिरिक्त, चिकित्सोपयोगी पौदों में केवल पुष्पवाले पौदों की प्रधानता न होती। क्षुद्र श्रेणी के पौदे भी सम्भवतः हमारे द्रव्य-गुण-शास्त्र में स्थान पाये होते। चाहे पुष्पवाले पौदों की अधिकता तब भी रहती, क्योंकि सुन्दर पुष्प, बड़े आकार आदि के कारण मनुष्य का, प्रारम्भ से ही उनकी ओर विशेष रूप से ध्यान देना अधिक सम्भव था, परन्तु क्षुद्रश्रेणी के पौदों की ओर उनकी ऐसी उदासीनता न रही होती। पुष्पवाले पौदों में भी हमारे देश में कुछ ऐसे पौदे हैं, जिनका पाश्चात्य चिकित्सा में बड़ा आदर है, परन्तु हमारे यहाँ उनकी चर्चा तक नहीं की गई है। इनमें इफेड्रा (Ephendra), बेलाडोना (Belladonna) तथा आर्टीमीसिया (Artemisin) मुख्य हैं। ये पौदे हिमालय में बहुत कठिनता से होते हैं और उन पौदों के साथ हो उगते हैं, जिनका वर्णन आयुर्वेद में किया गया है। ऐसी अवस्था में हमारे द्रव्य-गुण-शास्त्र में उनका न होना बहुत ही आश्चर्यजनक है। सम्भव है हमारी सन्दिग्ध औषधियों में से कुछ ये ही हों, परन्तु अभीतक इस विषय पर कोई सन्तोष-जनक उत्तर नहीं दिया जा सका है। यदि यह मान लिया जाय कि इनकी ओर सचमुच हमारे प्राचीन काल के ऋषियों ने ध्यान नहीं दिया था, तो यही कहना पड़ेगा कि ऐसा केवल उपरोक्त व्यावहारिक अध्ययन विधि के ही कारण हुआ। शुद्ध वैज्ञानिक अध्ययन में उनका छूट जाना असम्भव था।

[क्रमशः]

अब क्या होगा राम !!

श्रीचन्द्रशेखर त्रिवेदी, आयुर्वेदाचार्य,
ए० एम्० एस्०

बद्धजटाजूट कँटीली झाड़ियों में उलझ कर चरमरा उठता था। झुरमुटों में वल्कल-वसन का वश न चलता था। पदतलों में तीखे कण्टक-मुख चुभकर रक्त चूसा करते। सहस्रांशु की प्रचण्ड किरणें स्वेद को बूँद बनने के पहले ही वाष्प बनाकर उड़ा देतीं, किन्तु फिर भी उन करुणा-वारि-परिप्लुत आँखों में सरसों न फूलते थे। ललाट पर शिकन की छाया भी न पड़ती थी। उनकी गति अबाध बनी रहती। शुष्क अधरों पर कृपा की मुस्कराहट मुस्कुराया करती। तपःकृष्ण दुर्वासा-शरीर में कान्ति छिटकी पड़ती थी ! क्यों ? क्योंकि उन्हें बाह्य शरीर से हमारे जितनी आसक्ति न थी। उनके यशः शरीर में जरा मरण का भय न था। उनका लक्ष्य था "कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्" और अगर उन्हें कुछ याद थी तो केवल दया ! तभी तो भयानक हिंस्र सिंहों के पञ्जों में गड़े हुए शल्य निकालने के बाद उन्हें सद्यः सन्धानकारी "रोहिणी" "माँसरोहणी" आदिमहौषधियों की आवश्यकता पड़ती और उन दिव्य महौषधियों को भी आत्मसमर्पण करना ही पड़ता था। इधर भावी चक्रवर्तिमाताओं के पालतू मृग शावकों के उदर से जब कृमि निकलने लगते तब वे जाकर उन पौधों को देखा करतीं जिन्हें वे भक्षण कर आये थे, और तब "कृमिघ्न" आदि औषधियों का आविष्कार होता। उनके शकुन्तों के कलरव से जब दिन प्रतिदिन स्वर-माधुर्य बढ़ने लगता तो उन्हें "ब्राह्मी" आदि औषधियों में स्वर्य-गुण का पता चलता। किं बहुना, परमार्थ ही उन महापुरुषों का अर्थ था। "परोपकारः पुण्याय" ही उनका धर्म था। "प्राणिनामार्तिनाशनम्" ही काम और "मुक्तसङ्गः समाचर" ही उनका मोक्ष था। यही हमारा स्वर्णयुग था और यही आदर्शयुग था ! सम्भवतः इसी युग में महर्षि अग्निवेश ने वह अमर लतिका लगाई थी जो बारंबार दावानल से झुलसने पर आज भी अपने पुष्प-सौरभ से अखिल विश्व को वासित कर रही है।

धीरे धीरे कालने पलटा खाया। तारक-जटित महदाकाश जिनका निवासस्थान था उन्होंने शाला में रहना शुरू किया। पवित्र-हृदय शकुन्तों और वनमृगों का साथ छोड़कर द्वन्द्वमलिन मानस ग्रामीणों से सख्य रचा। जिनकी वृत्ति उञ्छ थी उन्होंने स्थायी सम्पत्ति रखना प्रारम्भ किया। फिर क्या हुआ ? उनकी अबाधगति मन्द पड़ गई। उपर्युक्त पुरुषार्थ-चतुष्टय के पालन में कठिनाइयाँ पड़ने लगीं, देखिये, अग्निवेश-संहिता, आयुर्वेद समुत्थानीय रसायनपाद—

"ऋषयः खलु कदाचिच्छालीना यायावराश्च ग्राम्यौषध्याहाराः सन्तः साम्पन्निका मन्दचेष्टा नातिकल्याणाश्च प्रायेण बभूवुः।

किन्तु उनकी यह क्षणिक निद्रा हमारी कुम्भकर्णी निद्रा से भिन्न थी, तभी तो उन्होंने अपना अधःपतन देखा। ग्रामवास में दोष समझा और उसे त्याग दिया। देखिये—

"ते सर्वासामितिकर्त्तव्यतानामसमर्थाः सन्तो ग्राम्यवासकृतं दोषं मत्वा पूर्वं निवासमपगतग्राम्यदोषं × × दिव्यतीर्थौषधिप्रभवमतिशरण्यं हिमवन्तममराधिपति गुप्तं जग्मुर्भृग्वङ्गिरोऽत्रिवसिष्ठप्रभृतयो महर्षयः"।

ग्रामवास-जनित दोष मार्जन के लिये उन्हें स्वयं औषधि सेवन की आवश्यकता हुई। यहीं से दिव्य-रसायनों का आविष्कार प्रारम्भ हुआ। च्यवन ने च्यवनप्राश, अगस्त्य ने अगस्त्य-हरीतकी, भृगु ने व्याघ्री-हरीतकी आदिका निर्माण कर सेवन किया। इसी प्रकार बहुत रसायनों का आविष्कार हुआ और प्रजाहितार्थ वे सब प्रकाशित भी कर दिये गये। यह कहने की आवश्यकता नहीं की उस समय देव-देवर्षियों ने भी असंख्य दिव्य-रसायनों को बतलाकर महर्षियों को उपकृत किया था। अस्तु! यही समय आयुर्वेद की उन्नति का था। कुछ दिनों तक इस उन्नति की गति अबाध रही और अन्ततोगत्वा यह उन्नति अपनी उस सीमा पर पहुँच गई, जहाँ से अवनति का पहला पर्दा प्रारम्भ होता है।

अरण्यवासी महर्षियों ने नगर निवासी गृहस्थों को भी आयुर्वेद का अध्ययन कराना प्रारम्भ कर दिया। आयुर्वेदोपदेश में विधि निषेध दोनों का वर्णन था। कुछ लोगों की दृष्टि निषेध की तरफ पहले अग्रसर होती है अतः इस स्वाभाविक नियम के वशीभूत हो बहुतोंने संयम छोड़ दिया। दूसरी बात यह कि अब वे दोषों से भयभीत भी न होते थे, क्योंकि रसायनों का अद्भुत चमत्कार उन्हें प्रत्यक्ष था। अस्तु, अब वे अल्पाहार त्याग कर अत्यादान करने लगे, फिर क्या हुआ? महर्षि चरक के ही मुख से सुनिये—

भ्रश्यति तु कृतयुगे केषांचिदत्यादानात् सांपन्निकानां सत्वानां शरीरगौरवमासीत्। शरीरगौरवात् श्रमः। श्रमादालस्यम्। आलस्यात् सञ्चयः। सञ्चयात् परिग्रहः। परिग्रहात् लोभः × × × लोभात् अभिद्रोहः। अभिद्रोहात् अनृतवचनम्। अनृतवचनात् काम-क्रोध मान-द्वेष-पारुष्याभिधान-भय-ताप-शोक-चिन्तोद्वेगादयः प्रवृत्ताः।

विचार पूर्वक देखा जाय तो अभी तक आयुर्वेदोपदेश प्रजाहितार्थ ही था, किन्तु उपर्युक्त भावनाओं के उदय होते हो उसका मार्ग बदल गया। जनसमुदाय में स्वार्थबुद्धि का प्राबल्य हो गया। अतुलित-बलधाम रसायनों एवं दिव्य शक्तिशाली महौषधियों को लोग गुप्त रखने लगे। होते होते कुछ दिनों में यह गुप्ति इतनी बढ़ गई की बहुतों के हृदय में वह ज्ञान अन्त तक पड़ा ही रहा और उन्हीं के साथ उसे चिता में जल जाना पड़ा। अब यहाँ से उन दिव्य आविष्कृत औषधियों पर आवरण पड़ने लगा। कुछ समय के बाद वह आवरण इतना घना हो गया कि अग्निवेश संहिता के प्रति संस्कार के समय महर्षि चरक को भी उस दुर्भेद्य आवरण से हार माननी पड़ी और उन दिव्य वनौषधियों के स्वल्प परिचय देने के उपरान्त "जो जो मिल सकें" यह लिखना पड़ा। देखिये, चरक रसायन-पाद चतुर्थ—

ब्रह्मसुवर्चला नामौषधिर्या हिरण्यक्षीरा पुष्करसदृशपत्रा × × आदित्यपर्णी × × × × आसामोषधीनां यां यामेव लभते, तस्यास्तस्याः स्वरसस्य सौहित्यं गत्वा स्नेहभावितायां आर्द्रपलाशद्रोण्यां सपिधानायां दिग्वासाः शयीत।

न केवल यही, तनिक सुश्रुत का निवृत्त सन्तापीय रसायन भी देखिये—

श्वेत कापोती, कृष्ण कापोती, गोनसी, वाराही, कन्या, छत्रा, अतिछत्रा, करेणुरजा, चक्रका, आदित्यपर्णिनी, ब्रह्मसुवर्चला, श्रावणी, महाश्रावणी, गोलोमी, अजलोमी, महावेगवती चेत्यादयो दश सोमसमवीर्या महौषधयो व्याख्याताः।

ध्यान देने की बात है कि आज जिसके मुखसे सुनिये अप्राप्य वनौषधियों में छुटते ही वह एक दूसरे ही वर्ग का नाम लेता है, क्यों ? इन औषधियों का नाम क्यों नहीं लिया जाता ? कारण यह है कि चरक सुश्रुत के आविर्भाव के कुछ दिनों पहले ही से उपर्युक्त औषधियाँ दुर्लभ हो गई थीं; धीरे धीरे अब वे स्मृति पथ से इतनी दूर हट गईं हैं कि सहसा उनका ध्यान आना तनिक कठिन है। इस प्रकार यहाँ से दिव्य औषधियों के एक वर्ग का लोप हो गया। उनको स्वरूप ज्ञान के लिये देखिये सुश्रुत के चिकित्सा स्थान का ३० वाँ अध्याय।

इसके बाद बहुत दिनों तक देश विदेशियों के आक्रमण से व्याकुल रहा। बड़े-बड़े महाग्रन्थ जला दिये गये। अन्ततोगत्वा आज से कुछ वर्षों पहले भावमिश्र का आविर्भाव हुआ। इनके समय में मेदा महामेदा आदि अष्टवर्ग की औषधियाँ जो चरक सुश्रुत के समय में बहुतायत से मिलती थीं दुर्लभ हो गयीं और उन्हे चरक सुश्रुत के समान ही इनपर विशेष जोर देकर लक्षण लिखने की आवश्यकता पड़ी। इस प्रकार दूसरे वर्ग का भी लोप निकट भविष्य में ही होनेवाला है। काल की गति बड़ी प्रबल है। इस तरह शनैः शनैः हिमालय की प्रथम ऋषिगोष्ठी से लेकर आज विक्रम का १६०० सम्वत् बीत रहा है। अब इस युग में रुद्रवन्ती, लक्ष्मणा इत्यादि औषधियों की बारी हैं। अभी सन्दिग्ध औषधियों की कथा अलग ही है ! इधर वैद्यसमाज आँखें बन्द किये, कानों में तेल डाले पड़ा है, इनकी यह अकर्मण्यता देखकर एक दीर्घ निश्वास के साथ कम्पित स्वर लहरी रो उठती है "अब क्या होगा राम !"

तुलसी

श्रीयुत रूपलाल वैश्य, सम्पादक—'बूटीदर्पण'

[गताङ्क से आगे]

यूनानी चिकित्सक तुलसी को 'रेहाँ' और तुलसी के बीज को 'तुख्म-रेहाँ' कहते हैं। परन्तु वास्तव में वे तुख्म रेहाँ की जगह तुलसी के बीज को व्यवहार में नहीं लाते। वे बर्बरी (वन तुलसी) के बीज को तुख्म रेहाँ की जगह काम में लाते हैं।

यूनानी मतानुसार तुलसी के बीज के गुणदोष—

पहले दर्जे में गरम और रूक्ष, मिश्री के साथ पेचिश में लाभकारी, सूखी धाँस, खाँसी और वक्षस्थल की खुरखुराहट को अत्यन्त गुणकारी, वीर्य को सान्द्र करता है तथा मस्तिष्क को हानिकारक, दर्पनाशक है गुलाब और मर्जजोश, प्रतिनिधि कनुवा मात्रा ३ से ६ माशे।

तुलसी की अनेक जातियाँ हैं, इनमें देश भेद से पाँच मुख्य हैं। जैसे—

(१) कृष्णा तुलसी—जो प्रायः सम्पूर्ण भारतवर्ष में पायी जाती है। इसका उपयोग बहुत रोगों पर होता है। गले के विकार, कफ विकार, नियत दिनों का ज्वर, फेफड़े के विकार, नासाव्रण इत्यादि रोगों पर इसका उपयोग बहुत अच्छा होता है। इसके चूर्ण के उपयोग से व्रण के कीड़े नष्ट हो जाते हैं। कान की पीड़ा पर इसका अच्छा उपयोग होता है। इसको नीबू के रस में मिला कर सेवन करने से मूत्ररोग का नाश होता है। त्वचा के रोगों पर इसके चूर्ण को नीबू के रस में मिला कर लगाना चाहिये। बीजों के व्यवहार से कफ-विकार नष्ट होते हैं।

(२) दद्रिह तुलसी—प्रायः बङ्गाल, नैपाल, चित्ता

गङ्ग और महाराष्ट्र आदि प्रान्तों में होती है। यह अपानवायु को शुद्ध करने, कण्ठ को सुधारने तथा आर्द्र करने और कफ को पतला करने के काम में विशेष कर आती है। हाथ पाँव की सूजन तथा सन्धि वात पर इसके पत्तों की धूनी से रुधिर विकार नष्ट होते हैं। सन्धि वात पर इसके पत्तों को पानी में उबाल कर उससे सेंकते तथा स्नान कराते हैं।

(३) राम तुलसी—चीन, ब्राजील तथा उत्तर हिन्दुस्तान में पाई जाती है। कुष्ठादि महाव्याधि पर यह अति उत्तम औषधि है। स्त्री जाति और पुरुष जाति के भेदों से यह दो प्रकार की होती हैं। स्त्री पुरुषों के रोगों पर तथा बायें और दायें भाग पर के रोगों पर विशिष्ट जाति की तुलसी का ही उपयोग किया जाता है। एक साल पर्यन्त इसके सेवन से कुष्ठादि महारोग दूर हो जाते हैं। इसके अलावे इसके सेवन से ज्वर में पसीना आ जाता है, जुकाम, खाँसी इत्यादि दूर हो जाते हैं। इसके पत्तों को पानी में उबाल कर उसमें दूध तथा खाँड़ मिला कर पीने से तत्क्षण थकावट दूर होती है।

(४) वाब्री तुलसी—बङ्गाल, विहार, युक्तप्रान्त, अवध, पञ्जाब, ट्रावनकोर, ईरान आदि प्रान्तों में पाई जाती है। इसका उपयोग उक्त रोगों में होता है। इसके सेवन से प्रसूता स्त्री को बहुत लाभ होता है तथा यह अग्निमान्द्य, वमन, कान की पीड़ा और मलेरिया ज्वर का नाश करने वाली है।

(५) तुका शमीय—हिन्दुस्तान के पश्चिम भाग और ईरान में पाई जाती है। इसका उपयोग अन्त-र्गल, आमाँश और क्रिमि में किया जाता है। दुर्बल मनुष्य इसके सेवन से हृष्ट-पुष्ट हो जाते हैं।

सब प्रकार की तुलसियों से हवा शुद्ध होती है, मलेरिया ज्वर, शीत ज्वर, और क्रिमि नष्ट होते हैं तथा आरोग्य बढ़ता है।

राम तुलसी

अनेक भाषा के नाम—

सं०। तुलसी, गन्ध तुलसी, तुलसी भेद।

हि०। रामतुलसी, राम तुलशी।

व०। रामतुलसी।

मा०। रामतुलस।

ते०। निम्म तुलसी।

ता०। एलुमिच्छम् तोलसी, एलुमिच-चम-तुलशी।

मा०। मोटी तुलस।

मला०। कात्तुतुत्तुवा।

प०। वनजिरे, वनजरे।

गु०। अनचिवावचि।

फा०। पलङ्ग मुश्क, पलङ्गमिश्क।

अ०। फरञ्जमिश्क, फिरञ्जमिश्क, फरञ्जमुश्क।

अं०। Shrubby Basil

ले०। Ocinum Gratissimum

यह पूरब नैपाल, बङ्गाल, बिहार, चट्टगाँव और दक्खिन के प्रान्तों में पाई जाती है।

इसका क्षुप अनेक शाखा प्रशाखाओं तथा ४ से ४ फुट तक ऊँचा होता है। इसके सर्वाङ्ग में तीव्र गन्ध होती है। पत्ते २ से ४ इञ्च लम्बे चौड़े, अनीदार और कंगूरेदार होते हैं। फीके पीलापन युक्त फूलों की मञ्जरियाँ लगती हैं। बीज-कोष गोलाईयुक्त चपटे होते हैं।

राम तुलसी—एक प्रकार की सुगन्ध तुलसी है। अनेक प्रकार की तुलसियों में सब से अधिक सुगन्धि इसके पत्तों को हाथ में मलने से आती है।

यूनानी मतानुसार गुणदोष—तीसरे दर्जे में गरम और रूक्ष, मस्तिष्क रोध की उद्घाटक, नाक के नथनों की स्वच्छताकारक, हृदय, यकृत् और आमाशय को बलकारी, आहार-पाचक, शोथ नाशक, हृदय की व्याकुलता, सौदावी विखासा और कफज विखासे को लाभकारी तथा शिरपीड़ा उत्पन्न करनेवाली एवं उष्ण प्रकृतिवालों को हानिकारक, दर्पनाशक है, बनफसा और सिकञ्जबीन, प्रतिनिधि लौंग और बादरञ्जोरिया, मात्रा ३ से ७ माशे तक सेवन करना चाहिये।

प्रयोग—(१) अर्द्धाङ्गवात, अर्दित वात, और गठिया पर इसके पञ्चाङ्ग के काढ़े का तरड़ा देने देने से अथवा बफारा देने से लाभ होता है।

(२) पत्तों के रस का पान करने से मूत्रकृच्छ्र आराम होता है।

(३) इसके बीजों का सेवन करने से अथवा पत्तों के काढ़े का कुछ दिनों तक पान करने से शरीर पुष्ट होता है।

(४) पारे से उत्पन्न हुई गठिया पर इसके पत्तों के काढ़े का तरड़ा अथवा पञ्चाङ्ग के काढ़े का बफारा देना उपकारी है।

(५) पारद दोष से मुख से पानी आने पर पत्तों के काढ़े से कुल्ले करना लाभ दायक होता है।

(६) पत्तों के रस का ललाट और कनपटियों पर लेप करने से शिरपीड़ा शान्त होती है।

(७) बीजों का सेवन करने से स्नायुसम्बन्धी पीड़ा दूर होती है।

बाबुई तुलसी (बर्बरी)

अनेक भाषा के नाम—

सं०। अर्जक, उग्रगन्ध, जम्बीर इत्यादि।

हि०। बाबुइ तुलसी, बबुई तुलसी, बबरी।

ते०। कुक्क तुलसी।

ता०। गञ्जम कोरई।

द०। नायी तुलसी, रामतुलसी।

मला०। काट्टुराम तुलसी।

सन्ता०। भरभरी।

अं०। Rosary Tulsi.

ले०। Ocinum Canum.

Syn. Ocinum Album.

यह भारतवर्ष की पहाड़ियों के नीचे खेत तथा मैदान में पाई जाती है।

यह क्षुप जाति की वनौषधि सीधी होती है। प्रायः इसके सर्वाङ्ग से सुगन्धि आती है। जड़ से इसकी डण्डी की उँचाई १-२ फुट तक होती है। पत्ते १ से १॥ इञ्च लम्बे और अनीदार होते हैं। फूलों में मञ्जरी लगती है।

प्रयोग—रामतुलसी नाई इसका उपयोग किया जाता है विशेषकर ज्वर की हालत में जब शीत लग जाता है तब इसके पत्तों को पीस कर हाथ पाँव की उँगलियों के नख पर लगाते हैं।

बनतुलसी (बर्बरी)

सं०। बर्वरी, विश्वतुलसी, अजगन्धा इत्यादि।

हि०। बर्बरी, बबरी, बनतुलसी, बाबरीसब्जा।

बा०। बाबुई तुलसी।

विहा०। गंठिवन, गेंठिवन।

म०। अजवला, आजवला, रान तुलस।

क०। गर्गेर, कगोरले, कामकस्तूरी, निरु तुलसी, कम्मगग्गरे, करवगगारि गिडे।

गु०। रानतुलसी भेद, रान तुलसी।

ते०। तेलगेर चेट्टु, कारु तुलसी, रुद्रजड़े।

ता० । तिरुनिकु, तिरुनितरु ।

प० । वरुरि, वबुई तुलसी ।

मु० । वाराइ तुलसी ।

मा० । वाबुई तुलसी ।

दा० । नायि तुलसी, नायतुलसी ।

द० । सब्जह ।

सिन्ध० । सब्भी ।

ब्रह्मी० । पिनजैन पिनजिन ।

फा० । फलङ्ग मुश्क, तुलसी जङ्गली, रेहाँ-दस्ती, दवानशाह ।

अ० । फरञ्ज मुश्क, रेहाँनुलवरीं, रेहाँ ।

अं० । Common Sweet Basil.

ले० । Ocinum Basilicum.

Syn. Ocinum Pilosum.

यह भारतवर्ष के गरम तथा साधारण प्रान्तों में विशेष कर पञ्जाब से ट्रावनकोर तक अधिक पाई जाती है। पञ्जाब की पहाड़ी भूमि में भी देखने में आती है।

इसका क्षुप सीधा १-२ फुट तक ऊँचा होता है डंडियाँ और शाखायें हरे रङ्ग की अथवा फीकी पीलापन युक्त हरे रङ्ग की होती हैं। पत्ते १-२ इञ्च लम्बे, अण्डाकार, अनीदार और नुकीले होते हैं। शाखाओं के अन्त में फूलों की मञ्जरी लगती है। उसीमें बीजकोष होते हैं। बीज नन्हें नन्हें काले रङ्ग के किञ्चित् लम्बे, एक ओर महराब का चिन्ह और दूसरी ओर चिपटे तथा मोटी नोक वाले होते हैं। वे गन्ध हीन होते हैं परन्तु उनका स्वाद तेलिया और कुछ चरपरा होता है। इनको पानी में भिगोने से लुआबदार से दीख पड़ते हैं। सूखने पर इसके वृक्ष से अच्छी सुगन्धि आती है। इसके पञ्चाङ्ग का अर्क निकालने से अर्क के ऊपर तैरता हुआ तेल दिख पड़ता है। यह तेल कुछ पीले रङ्ग का हलका और उड़ने वाला होता है। और कुछ दिनों तक रखा रहने से जम जाता है।

आयुर्वैदिकमत से गुणदोष—चरपरी, कड़वी, गरम, रुचिकारी, अग्निप्रदीपक, हृदय को हितकारी, हलकी, पित्तजनक, रूखी, तीखी, दीपन, पचने में हलकी तथा कफ, वात, नेत्ररोग, रुधिर-दोष, दाद, कृमि, विषविकार, खुजली, वमन, कोढ़ और ज्वर को दूर करने वाली है। यह सुख-पूर्वक प्रसव करानेवाली है।

इसके बीज-दाह और शोथ का नाश करने वाले हैं।

यूनानीमत से गुणदोष—दूसरे दर्जे में गरम और रूक्ष, शोथ नाशक और विशेष कर कफज शोथ को लाभकारी, शीत के रोगों में गुण कारक, कान में डाला हुआ इसके पत्तों का स्वरस दाँतों के कीड़े को मार कर निकालने वाला तथा यह फेफड़े और मस्तिष्क को हानिकारक है। मात्रा ३ से ६ माशे।

प्रयोग—(१) इसके पत्तों का स्वाद लौंग के समान होता है। बहुधा शाकादि के बघारने के काम में इनको लाते हैं। इसके बीज, चरपराहट मिटाने वाले, उत्तेजक, मूत्रवर्धक, पसीना लाने वाले, शीतल और बहुत पौष्टिक होते हैं। बीजों को पानी में भिगोकर या कहीं कहीं रोटी में मिला कर खाते हैं।

(२) बीजों के लुआब में मिश्री डालकर पीने से मूत्रकृच्छ्र आराम होता है।

(३) वृक्क के रोग पर-बीजों का फाण्ट पिलाया जाता है।

(४) इसके फाँट में जायफल का चूर्ण मिला-कर सेवन करने से अतिसार का नाश होता है।

(५) आमातिसार में घी में तला हुआ सौंफ का चूर्ण और मिस्री को इसके फाँट के साथ सेवन करने से लाभ होता है।

(६) वालक के दाँत निकलने के समय के अतिसारपर इसका फाँट पिलानेसे लाभ होताहै।

(७) इसके बीजों का हिम पिलाने से प्रसव के वाद की पीड़ा शान्त होती है।

(८) अवस्था और वलानुसार तीन माशे से एक तोले की मात्रा से बीजों का सेवन करने से शरीर पुष्ट होता है।

(९) विच्छू के दंश पर इसके पत्तों को पीस कर लेप करने से पीड़ा आराम होती है।

(१०) इसके पञ्चाङ्ग का काढ़ा देने से पसीना आता है।

(११) इसके सूखे पत्तों का चूर्ण बुरकने से कृमि वाले घाव आराम होते हैं।

(१२) शीतज्वर में इसके पत्तों के रस में सोंठ और मरिच का चूर्ण मिला कर सेवन करना चाहिये।

(१३) इसके बीजोंके चूर्ण को ३ से ७ माशे तक की मात्रा में सेवन करने से अतिसार का नाश होता है।

(१४) वालक के अतिसार पर २-३ रत्ती बीज का चूर्ण शर्वत अनार के साथ देना चाहिये।

(१५) घाव पर बीजों को पीस कर बाँधने से लाभ होता है।

(१६) बीजों के चूर्ण को किसी दस्तावर शर्वत के साथ सेवन करने से कोष्ठवद्धता दूर होती है।

(१७) गुदा के भीतर के अर्श की पीड़ा पर बीजों का सेवन करने से लाभ होता है।

(१८) मूत्र और वीर्य सम्बन्धी रोगों पर ४ माशे बीजों को पाव भर पानी में भिगाकर और उसमें थोड़ी मिश्री मिलाकर कुछ दिनों तक सेवन करना चाहिये।

(१९) ज्वर में बीजों का शर्वत पिलाना गुण-दायक है।

(२०) मूत्रवृद्धि के लिये भी उक्त प्रयोग करना चाहिये।

(२१) कान की पीड़ा और वहरापन पर इसके पत्तों का रस कान में डालने से लाभ होता है।

(२२) वालक के लघुविरेचन के लिये इसकी जड़ का काढ़ा पिलाया जाता है।

गोबर की राम कहानी

श्रीयुत शिवपूजन सहाय, हिन्दी-भूषण

[गताङ्क से आगे]

मैं हूँ तो बड़ा रसीला, पर सीधी तरह अपना रस मैं किसी को नहीं देता। अगर आप मुझे कपड़े में रखकर निचोड़ियेगा, तो एक बूँद भी न टपकाऊँगा। हाँ, अगर मेरे गरमागरम शरीर पर बारीक कपड़ा रख रख कर सिर्फ कपड़े ही को निचोड़ियेगा, तो अलबत्ता आपका कटोरा भर सकता है।

मेरे रस से रतौंधी की दवा बहुत अच्छी बनती है। वैद्य महाशयों को मालूम है कि दृष्टिमान्द्य में गोमयतैल कितना उपयोगी होता है। तेल से चौगुना मेरा रस डालकर पकाइये, और जब केवल तेल शेष रह जाय तब उसके शीतल होने पर आँखों में लगाइये। फिर तो आप सम्पाती के समकक्ष बन जायँगे।

आपको मालूम होना चाहिये कि आयुर्वेद का प्रसिद्ध मरिचादि तैल मेरे रस के बिना नहीं बनता। इस तैल में प्रायः समस्त चर्मरोगों को विनष्ट करने की अपूर्व शक्ति है, वह मेरे ही रस का प्रभाव है।

'भिलावा' का गुण आप जानते ही हैं कि अशुद्ध रहने पर यह शरीर में खाज और फुन्सियाँ पैदा कर देता है, जिससे शरीर खूब फूल जाता है और लाल हो उठता है। किन्तु 'भिलावा' को यदि मेरे रस में एक पहर तक उबाल दीजिये तो मैं निश्चय ही इसके उपर्युक्त दुर्गुणों को नष्ट कर दूँगा। मेरे रस के संयोग से यह विषाक्त वस्तु भी शरीर की कान्ति बढ़ानेवाली और भगन्दर तथा बवासीर को नष्ट करने में सफल हो जाती है। इस प्रकार मैं विष को भी अमृत बनानेवाला पदार्थ हूँ।

इतना ही नहीं, मेरे रस में और भी बहुतेरे गुण हैं। सूखी खाज (शुष्क कण्डु) और पामा (कलकल) पर अगर मेरा ताजा रस लगाया जाय तो मैं जादू का असर दिखा सकता हूँ। यही क्यों, यदि आपको बन्दर काट दे, और तत्काल आपको कोई दूसरी दवा न मिल सके, तो मुझे गरमागरम उठाकर अपने क्षत पर लगाइये। फिर देखिये कि मैं कैसा छूमन्तर का प्रभाव दिखाता हूँ।

आप यह न समझिये कि विष को अमृततुल्य गुणद बनाने का मेरा दावा झूठा है। भिलावे की तरह जमालगोटे पर भी आप मेरे इस दावे की आजमाइश कर सकते हैं। जमालगोटा यद्यपि एक उपयोगी ओषधि है तथापि अशुद्ध अवस्था में यह वमन एवं विरेचन तथा शरीर में अत्यन्त उग्र दाह उत्पन्न करता है और कभी-कभी तो अधिक मात्रा होने पर मारक भी सिद्ध होता है। किन्तु मेरे साथ तीन दिन तक इसे रख छोड़िये, फिर तो मैं इसके उपर्युक्त दुर्गुणों को चुटकियों में उड़ा दूँगा और तब यह जुल्मी जुल्लाब बनकर वैसे ही पेट की हजामत बना देगा जैसे त्रिवेणीतट के हज्जाम स्नानार्थियों की बनाते हैं।

आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि खेत की मिट्टी पर मैं जितना प्रभाव डालता हूँ उतना ही धातुओं पर भी। जो 'स्वर्णपर्पटी' सङ्ग्रहणी-रोग की सर्वोत्तम ओषधि है वह मेरी ही वेदी पर बनाई जाती है। इसके अतिरिक्त पञ्चामृत-पर्पटी भी, या यों कहिये कि अन्य धातुओं के साथ मिला कर जहाँ पारद के जमाने का प्रयोग किया जाता है, वहाँ भी, सब जगह, मेरी ही वेदी पर जमाया जाता है।

मेरे आर्द्र शरीर के गुणों को आप देख चुके ? अच्छा, अब मेरे शुष्क शरीर के गुणों को भी परखिये।

क्या आपको पता है कि मेरा शरीर जब सूखकर काँटा हो जाता है तब भी मैं लोकोपकार ही करता हूँ ?

सूख जाने पर 'उपला' या 'कण्डा' कहलाता हूँ। दूध को औंटाने के लिए उपले या कण्डे की आग ही सर्वोत्तम होती है। स्वादिष्ट बाटी बनाने में उपले या कण्डे ही काम देते हैं। उपलों और कण्डों की ही बदौलत इस देश के करोड़ों गरीबों के चूल्हे जलते हैं।

खासकर धातुओं के फूँकने में तो केवल कण्डे ही काम में आते हैं। कोयले या बिजली की आग अथवा अन्य रासायनिक ज्वालाओं की सहायता से बनाये गये रसों में उतना गुण विशेष नहीं आता जितना मेरे कण्डों से फूँके गये भस्मों में !

मेरे सूखे कण्डे में यहाँ तक गुण है कि दाद (दद्रु) पर कोई भी दवा लगाने के पहले अगर उसे कण्डे से खुजला दिया जाय और फिर उसपर दवा लगाई जाय, तो तत्क्षण लाभ होता है।

मैं अपने सूखे कण्डे की गुणावली कहाँ तक सुनाऊँ, उसकी राख तक अनेक गुणों से भरपूर है। त्रिदोष के रोगी की देह पर जब पानीसा पड़ने लगता है और सारी देह शीतल हो जाती है, तब कण्डे की राख मलने से ही रक्त में पुनः गर्मी आती है। इस प्रकार जलकर खाक हो जाने पर भी मैं मृतप्राय शरीर में जीवन-सञ्चार करता हूँ।

कहाँतक मैं अपनी गुणगाथा सुनाऊँ ? मेरी उपयोगिता को हिन्दुस्तानी लोग एक दम भूल गये हैं; इसीलिए वे खुली आँखों गोवंश का ह्रास देख रहे हैं। यदि वे गोमाता की रक्षा और गोमय के सदुपयोग में दत्तावधान हों तो भारत पुनः समृद्ध हो सकता है। मैं अपनी पूजनीया माता की ही भाँति मानवजाति का अन्नदाता और प्राणदाता हूँ। इस बात को दिल में टाँक लीजिये।*

कस्तूरी मृग

प्रोफेसर धीरेन्द्रकिशोर, एम० एस्० सी०

कस्तूरीमृग की एक स्वतन्त्र जाति होती है। मृग जाति में यही एक बिना सींग का मृग होता है। हाँ, एक और मृग जिसे चाइनीज, वाटरडीमर कहते हैं; शृङ्गरहित होता है।

कस्तूरीमृग पहाड़ी जन्तु है। मध्य एशिया, साइबेरिया, तिब्बत और हिमालय की ऊँची चोटियों के किनारे पर अधिक मिलते हैं। गर्मी के दिनों में ये १२०० फीट ऊँची चोटियों के किनारे मिलते हैं।

सबसे छोटे मृग की पुट्ठे की ऊँचाई दो फीट से कम होती है। सामान्यतः यह ऊँचाई दूसरे कन्धे से अधिक होती है। पिछले पैर खास कर लम्बे होते हैं। बीच में एक मोड़ होती है जिससे पिछले खुर जमीन छूते रहते हैं। खाल लम्बी और मोटी होती है, छूने पर चिकनी और भींगी मालूम होती है। यह समतल मालूम पड़ती है। बाल कड़े और रूखड़े होते हैं। पूँछ खुली और २ इञ्च से भी छोटी होती है।

केवल नर मृगों में आगे की ओर कुछ ढँका रहता है। नीचे की ओर बढ़े हुए दाँत जो ऊपर के जबड़ों में उत्पन्न होते हैं, वे २-३ इञ्च लम्बे होते हैं। पेट में एक थैला होता है जिसमें चिकने मलहम के समान मुश्क रहता है। भेदक दाँत मादा को तो होते ही हैं, नर मृग को भी होते हैं। यही चिकना मलहम कस्तूरी कहा जाता है।

इनके रङ्ग में बहुत भिन्नता होती है। अधिकतर

*गोबर में जहाँ अनेक गुण हैं वहाँ कुछ दुर्गुण भी हैं, क्योंकि सारी सृष्टि ही गुणदोषमयी है। धनुर्वात (टिटेनस) के जीवाणु गोबर में रहते हैं। अतः क्षतवालों को गोबर से अपने व्रण को बचा रखना चाहिये।—सम्पादक

इनका रङ्ग काला-सफेद होता है। शरीर पर धब्बे भी होते हैं लेकिन कमर में बिलकुल काले और सफेद होते हैं। नीचे का भाग और कुछ दूर तक ऊपरी भाग नारङ्गी रङ्ग का होता है या उस पर पीले धब्बे रहते हैं। इस मृग के शरीर पर जैसा कि और मृगों में होता है, साफ धब्बे होते हैं।

कस्तूरी मृग प्रत्येक दशा में एक बहुत ही अद्भुत जन्तु है। उसकी हर एक आदत शशक (खरगोश) से मिलती जुलती है। यह मिलनसार जीव नहीं है। घास इत्यादि चरने के बाद यह अपनी माँद में रहता है। इसकी माँद प्रायः पहाड़ के ढालू स्थानों में घास वृक्ष आदि से पूर्णतः ढँकी रहती है। यह कूद कूद कर बड़े ही इत्मिनान के साथ आगे बढ़ता है। इसके खुर काँटे के समान नुकीले होते हैं, जो चलने में बहुत सहायक होते हैं। यह घास पात और फूल फल खाता है। नर कस्तूरी मृग के मांस में कस्तूरी की किसी प्रकार गन्ध नहीं रहती।

यह साल के आरम्भ में जोड़ा खाता है और १६० दिन बाद जून में इसके बच्चे पैदा होते हैं, कभी कभी एक साथ दो बच्चे भी पैदा होते हैं, परन्तु प्रायः एक ही बच्चा पैदा होता है। जब बच्चा बारह महीने का हो जाता है तब उसमें प्रजनन शक्ति उत्पन्न हो जाती है। नर कस्तूरी मृग का शिकार प्राचीन समय से ही होता आया है और इसके अधिक मिलनसार न होने का यही कारण भी है। मृगनाभि (कस्तूरी) प्राचीन समय से ही व्यापार के लिये बहुमूल्य वस्तु रही है। कस्तूरी मृग पकड़े जाने पर शशक की तरह बड़ी कड़ी आवाज से चिल्लाता है। इसके अतिरिक्त यह अन्य किसी प्रकार की बोली नहीं बोल सकता। जोड़ा खाने के समय के अतिरिक्त थैले में कस्तूरी नहीं पायी जाती इस समय उसमें लगभग एक औंस (२॥ तोला) कस्तूरी पायी जाती है।

अनुभव करके देखा गया है कि कस्तूरी मृग बन्दी अवस्था में भी भलीभाँति रहता है। इस प्रकार से बिना जीव हत्या या किसी झञ्झट के कस्तूरी निकाली जाती है। यह काम जङ्गलों में सुविधा के साथ नहीं होता, क्योंकि यह वहाँ उछल कूद मचाने लगता है और लोग कस्तूरी निकाल नहीं पाते। सबसे सुविधा-जनक विधि उसे पालतू बनाकर कस्तूरी निकालने की है।

ताजी कस्तूरी की गन्ध अति तीव्र होती है यह रोचक नहीं होती। रगों को मजबूत बनाने में इसकी जितनी आवश्यकता होती है उतनी ही किसी चीज को खुशबूदार बनाने में भी! औषधि रूप से इसका प्रचुरमात्रा में व्यवहार होता है।

कस्तूरी मृग अन्य मृगों से केवल इसीलिये भिन्न नहीं होता कि वह शृङ्ग-हीन है, प्रत्युत उसमें पित्ताशय भी होता है जिसका अन्य मृगों में अभाव रहता है। इनमें मिथ्यानयनग्रन्थियाँ (Face glands) नहीं होतीं।*

---

* यह हिमालय की ऊँची भूमि में अर्थात् ९—१५ हजार फीट के लगभग रहता है इसके खाने के लिये मुख्य घास उसी भूमि में होता है। यह मृग खास कर नैरा नामक घास खाता है। जिसके क्षुप प्रायः गज डेढ़ गज ऊँचे होते हैं। नैरे के पत्र मोटे और रसभरे होते हैं। इसके रस में अत्यन्त सुगन्ध होती है। भूटान के लोग नैरे के सपत्र वृक्ष कूट कर धूप बनाते हैं। यह धूप सूखे चूर्ण रूप में अल्मोड़े बागीश्वर आदि में लगभग ॥।) आना सेर बिकता है। इसमें केवल घी मिला देने से ही अत्यन्त सुगन्ध धूप हो जाता है। ईश्वर ने यह घास सचमुच कस्तूरी के लिये ही बनाकर 'रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन' इस नियम को नियत किया है।

विल्व-पत्र

राजा शशिशेखरेश्वरदेव शर्म्मा, रायबहादुर

हिन्दू साधक की दृष्टि में जिस विल्व-वृक्ष की एक शुष्क पत्ती का इतना आदर है उसी विल्व-वृक्ष को हम लोगों के शास्त्रों में "महाफल-वृक्ष" के नाम से अभिहित किया गया है, इसमें किञ्चिन्मात्र भी आश्चर्य का विषय नहीं है। इसका एक दूसरा नाम "शिवद्रुम" भी है। किसी किसी स्थान पर इसे "अतिमङ्गल" नाम से भी वर्णन किया गया है। विल्व के नामान्तर, "लक्ष्मीफल" "सदाफल" "सत्यफल" तथा "श्रीफल" भी हैं। आयुर्वेदीय अनेक ग्रन्थों में, वेल की मूल (जड़), लकड़ी, त्वक् (छाल), पत्ती, फूल, पका हुआ फल, गुठली, सूखा हुआ वेल इत्यादि के जितने गुण कीर्तित हुए हैं, उनकी ओर दृष्टि रखकर, इसका ऋषि-मुनियों ने इतना आदर करके, क्यों "शिवद्रुम" "श्रीफल" "सत्यफल" इत्यादि अत्यन्त उच्च भाव के नाम दे दिये हैं, यह भेद अनायास ही समझ में आ सकता है।

प्रथमतः राजवल्लभ द्वारा संगृहीत द्रव्यगुण पुस्तक (निघण्टु) में इसके सकल साधारण गुण वर्णन किये गये हैं।

विल्वं 'बालं' कषायोष्णं पाचनं वह्निदीपनम्।
संग्राही तिक्तकटुकं तीक्ष्णं वात-कफापहम् ॥
पक्वं सुगन्धि मधुरं दुर्जरं ग्राहि दोषलम्।
कफ-वाताम-शूलघ्नो ग्राहिणी विल्वपेषिका ॥
विल्वमूलं मरुत्-श्लेष्मा-छर्दिघ्नं रक्तपित्तजित् ॥"

इसका मर्मार्थ इस प्रकार है—कोमल वेल कषाय, तिक्त, कटुरस, तीक्ष्णवीर्य, अग्निदीपक, संग्राही, पाचक, वायु और कफनाशक है। पक्का वेल—मधुर रस, सुगन्ध, दुष्पच, संग्राही तथा दोषवर्द्धक है। विल्वपेषिका—कफ, वायु, आम तथा शूलनाशक और संग्राही है। विल्वमूल (वेल की जड़)—वायु, श्लेष्मा, वमन तथा रक्त-पित्त नाशक है।

वृहन्निघण्टु रत्नाकर में इस प्रकार वेल का वर्णन किया गया है—

तत्पत्रं कफवाताम-शूलघ्नं ग्राहि रोचनम्।
निहन्यात् विल्वजं पुष्पमतिसारं तृषां वमिम् ॥
विल्वमज्जाभवं तैलमुष्णं वातहरम्परम्।
काञ्जिके संस्थितं विल्वमग्निसन्दीपनं परम् ॥
हृद्यं रुचिकरम्प्रोक्तमामवातविनाशनम्।
द्राक्षा-विल्व- शिवादीनां फलं शुष्कं गुणाधिकम् ॥

अर्थात्—वेलकी पत्ती, वायु, श्लेष्मा, आम तथा शूलनाशक, संग्राही और मुखकी रुचिकारक है। वेलका फूल—अतिसार, तृष्णा और वमन को नाश करता है। वेल के वीज का तैल—उष्ण वीर्य तथा अत्यन्त वायुनाशक है। वेल को कांजी में भिगो देने से वह अत्यन्त अग्निदीपक, रुचिकारक, प्रिय (खाने में सुस्वादु) और आमवात विनाशक हो जाता है। कच्चे की अपेक्षा सूखनेपर द्राक्षा (अंगूर) वेल तथा हरीतकी (हर्रें) इत्यादि फलों का गुण और भी अधिक हो जाता है।

भाव प्रकाश कहता है—

श्रीफलस्तुवरस्तिक्तो ग्राही रूक्षोऽग्निपित्तजित्।
वातश्लेष्महरो वल्यो लघुरुष्णश्च पाचनः ॥

कोमल वेल-तिक्त-कषाय रस, रुक्ष, उष्णवीर्य, संग्राहक, पाचक, अग्नि तथा पित्त नाशक बलवर्द्धक, लघु और श्लेष्म नाशक होता है।

धन्वन्तरि निघण्टु में लिखा है—

विल्वमूलं त्रिदोषघ्नं छर्दिघ्नं मधुरं लघु।
विल्वस्य च फलं चाम्लं स्निग्धं संग्राहि दीपनम्॥
कटुतिक्तकषायोष्णं तीक्ष्णं वातकफापहम्।
विद्यात्तदेव पक्वं तु मधुरानुरसं गुरु॥
विदाहि विष्टम्भकरं दोषकृत् पूतिमारुतम्।

वेल का मूल—मधुर रस, लघु और त्रिदोष-नाशक है। वेलफल—अम्ल, कटु, तिक्त, कषाय रस, स्निग्ध, तीक्ष्णवीर्य, संग्राही, दीपक, तथा वात-कफ-नाशक है। पक्का वेल, मधुरानुरस, विदाही, विष्टम्भकर अधोवायु में दुर्गन्ध उत्पन्न करनेवाला एवं दोषवर्द्धक है।

अब हम आयुर्वेदीय अनेक ग्रन्थों पर विल्व-वृक्ष के पृथक् पृथक् अंशों के अनेक प्रकार की रोग निवारक शक्तियों के वर्णन जो-जो हमने पढ़े हैं. वे संक्षेपतः इस प्रकार हैं—

वेल की पत्ती का रस शरीर में मलने से अति स्थूल व्यक्ति के पसीने के कारण शरीर में दुर्गन्ध उपस्थित हो जाने पर वह दूर हो जाती है।

ज्वर के रोगी को प्रलाप हो जाने पर, अर्थात् जिस समय वह बहुत बकने झकने लगे उस समय उसके शिर पर वेल पत्ती का लेप चढ़ाने से वह शान्त हो जाता है।

तरुण श्लेष्मा रोग में वक्ष (छाती) पर ही वेलपत्र का प्रलेप करने से विशेष उपकार होता है।

सान्निपातिक शोथ रोग में (हाथ पांव फूल जाने पर) वेलपत्ती का रस, गोलमिर्च की बुकनी के सङ्ग एक तोले परिमाण में प्रतिदिन प्रातःकाल पीने से अधिक लाभ होता है।

यदि ज्वर के साथ ही साथ मल द्वार में असहनीय वेदना भी होती हो, ऐसी दशा में सुखाये हुए वेल को क्षीरपाक विधानानुसार खीर के सदृश पकाकर उसे रोगी को खिलाने से विशेष उपकार होता है।

सुखाये हुए वेल तथा तिल इन दोनों को समान भाग लेकर और उन्हें सिलपर पीसकर उसमें दही की मलाई, अनार का रस और तिल्ली का तेल मिला ले, फिर उसमें मठा डालकर उसे पतला करके उसके द्वारा जूस पका कर खिलाने से आमाशय (प्रवाहिका) रोग में उपकार होता है।

सुखाये वेल तथा यष्टीमधु (मुलेठी) को चावल की धोवन में पीसकर, फिर उसमें चीनी और शहद मिलाकर और उसे चावल के धोये हुए पानी (धोवन) में घोलकर पीने से पित्तरक्तज अतिसार शान्त होता है।

सुखाये हुए वेल की बुकनी को थोड़ी सी सोंठ की बुकनी के सङ्ग मिला कर ईख के पुराने गुड़ के सङ्ग खाने के उपरान्त मठा पान करने से ग्रहणी रोग पर उपकार होता है। रक्तार्श (खूनी ववासीर) रोगी को सुखाये हुए वेल की बुकनी खाने से उपकार होते देखा गया है।

ᴊ४ सेर तिल्ली का तेल गोमूत्र में पिसी हुई सुखाये हुए वेल की गुद्दी ᴊ१ सेर के साथ ᴊ६ सेर वकरी के दूध तथा जल में पकाना चाहिये। इस तैल को थोड़ा सा लेकर कान में भर रखने से वधिरता (वहिरापन) दूर होती है।

अर्श रोगीके मस्सों में अत्यन्त वेदना होनेपर वेल की जड़ के ईषदुष्ण (गुनगुना) काढ़े में रोगी को वैठा देने से उपकार होते देखा गया है।

वेल की जड़ का काढ़ा पका कर; कुछ ठण्डा होने पर उसके संग धान के लावे की बुकनी और चीनी मिला कर खिलाने से बच्चों की उलटी और अतिसार छूट जाता है।

ज्वर तथा श्वास के रोगी को जिस समय हृत्स्पन्दन (छाती की धड़कन) अत्यधिक होने लगे, उस समय बेल की मूल का काढ़ा पीनेसे अच्छा लाभ मिल सकता है।

कच्चे बेल को भून कर गुड़ के सङ्ग उसे खाने से आमातिसार अच्छा हो जाता है।

एक स्थान पर 'अपस्मार' के एक रोगी को बेल के काटों की माला पहिनाये रखते देखा गया है, इससे यह सहज ही अनुमान होता है कि अपस्मार हिस्टेरिया (Hysteria) रोग के लिये बेल के काँटे उपकारिता शक्ति रखते होंगे।

डाक्टरों ने परीक्षा करके देखा है—बेल का सारकाष्ठ (हीर) जलाने से उसकी भस्म में से (Phosphetes of Lime) फासस्फेट्स आफ लाइम-चूनहाड़ा और फास्फेट्स आफ आयरन (Phosphets of Iron) लौह-हाड़ा, ये दोनों वस्तुयें थोड़े परिमाण में मिलती हैं इसलिये धातु क्षीणता के रोगी की बल-वीर्य वृद्धि के उद्देश्य से जिस प्रकार उक्त दोनों औषधियों का व्यवहार करना आवश्यक है।

इसी प्रकार क्षीणरोग ग्रस्त व्यक्ति को बेल को लकड़ी की भस्म शहद के सङ्ग मिलाकर इसी चरनी का व्यवहार कराने से उनके (अङ्गरेजी औषधियों के) समान ही उपकार प्राप्त करने की सम्भावना है। किन्तु इसकी परीक्षा करके अभी-तक हमने स्वयं नहीं देखा है। चाहे कोई भी व्यक्ति इसकी परीक्षा करके फलाफल देख सकता है, इससे यदि कोई उपकार न हो तो भी किसी प्रकारके अपकार को तो कोई आशङ्का ही नहीं है।

आजकल के डाक्टरों ने दीर्घ-व्यापी उदरामय पर बेल का मुरब्बा रोगियों को व्यवहार कराना आरम्भ कर दिया है। इसका आजकल साहबों के महलों और बङ्गलों में इतना अधिक व्यवहार होने लगा है कि कलकत्ते की 'बेथगाड' कम्पनी के औषधालय में चीनी की चासनी में मिला हुआ कच्चे बेल का चूर्ण बोतल भर भर कर औषध-स्वरूप बराबर बिक्री होता है।

एक स्थानपर किसी व्यक्ति को बेल की नरेटी को सुखाकर और उसे कूटकर धूप के सदृश अग्नि में सुलगाकर घर में उसका धुआँ देते हमने देखा था। उससे प्रश्न करने पर यह विदित हुआ था कि-उसके धुएँ के प्रभाव से घर से मच्छड़-मक्खी इत्यादि दूर हो जाते हैं।

बिहार तथा मध्य-प्रदेश के किसी किसी स्थान पर कोई कोई राज मिस्त्री को चूने-सुरखी के साथ बेल की नरेटी की बुकनी मिलाकर छतपर पालिश करते हुए हमने देखा है! साधारण चूने-सूरखी की छत की अपेक्षा इस प्रकार के मशाले में तैयार की हुई छत बहुत मजबूत होती है और अधिक चमकीली भी होती है-राजमिस्त्रियों के मुख से इस प्रकार सुनने में आया है। बेल को नरेटी सुखाकर नारियल को नरेटी के सदृश उसकी एक कटोरी तैयार करके उसमें कुछ दिनों तक तिल्ली का तेल तथा कपूर रख कर उस पात्र (कटोरी) में से थोड़ा सा तेल निकालकर बीच बीच में-कभी कभी बालों में लगाने से शिर की जूँ नष्ट हो जाती है, हमने ऐसा सुना है।

धार्मिक, वैज्ञानिक और तान्त्रिक दृष्टि से भी विल्व बहुत ही महत्व की वस्तु है। अप्रासङ्गिक होने के कारण हम उसे यहाँ लिखना व्यर्थ समझते हैं।

गृञ्जन क्या है ?

श्रीकेदारनाथ शर्म्मा

'वनौषधि' के प्रथम अङ्क में आयुर्वेद महामहोपाध्याय पण्डित भगीरथ स्वामी जी का उक्त शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ था जिसमें 'गृञ्जन' शब्द का अर्थ शलगम निश्चित किया गया है। इस लेखके दो अंश हैं। एक तो गृञ्जन और गाजर दो भिन्न भिन्न वस्तु हैं, दूसरा गृञ्जन नाम शलगम का है। सबसे पहिले शलगम को गृञ्जन मानने में बड़ी आपत्ति यह है कि शलगम भारतीय वस्तु नहीं है। किसी भी निघण्टु में इसका स्पष्ट नाम नहीं आया है। संस्कृत तो दूर रहा हिन्दी में भी इसका कोई नाम नहीं है। शलगम या शलजम फारसी नाम है। इन्हीं पर क्रमशः विचार करना है। वस्तुतः 'गृञ्जन' शब्द का अर्थ गाजर तो है ही नहीं? जो धर्मशास्त्र की दृष्टि से गाजर को गृञ्जन का अर्थ समझकर अभक्ष्य समझते हैं, वे वस्तुतः भ्रान्त हैं।

'लशुनं गृञ्जनञ्चैव मत्या जग्ध्वा पतेद्द्विजः।'

इस धर्मशास्त्र के अनुसार निषिद्ध गृञ्जन गाजर नहीं है। इसमें दूसरा प्रमाण प्रसिद्ध धर्मशास्त्र का ग्रन्थ निर्णय सिन्धु है श्राद्धवर्जनीय-भक्ष्य-प्रकरण में देखिये :—

'गृञ्जनं चुक्रिकाञ्चैव गाजरं जीवकं तथा।'

इसी ब्रह्मपुराण के श्लोक के नीचे निर्णय-सिन्धुकार लिखते हैं :—

'गृञ्जनं पलाण्डु भेदः, पश्चिमदिशि प्रसिद्धः। न तु गाजरम्, तस्य पृथगुक्तत्वात्। हेमाद्रिणा तु गृञ्जनं गाजरमेवोक्तम्।'

इन पङ्क्तियों से स्पष्ट है कि धर्मशास्त्री भी गृञ्जन और गाजर को पृथक् मानते हैं। यद्यपि हेमाद्रि ने दोनों को एक ही मान लिया है, फिर भी निर्णय सिन्धुकार को यह अभीष्ट नहीं है। यह इन पङ्क्तियों से स्पष्ट है।

अतः यह तो निश्चय होगया कि गृञ्जन और गाजर को एक मानना अन्धपरम्परा मात्र है।

अब रहा दूसरा प्रश्न कि गृञ्जन है क्या? यह विचारणीय है। हम इस सम्बन्ध में कदली नाम से प्रसिद्ध कन्द विशेष को 'गृञ्जन' मान कर आलोचकों के सम्मुख उपस्थित करते हैं। इसकी सिद्धि में प्रमाण गृञ्जन के नाम और गुण हैं। विज्ञानेश्वर पण्डित ने मिताक्षरा में लिखा है :—

'गृञ्जनं लशुनानुकारी सूक्ष्मनालः कन्दविशेषः।'

इससे यह मालूम होता है कि गृञ्जन लशुन के आकार का ही एक कन्द है, इसके नाल और पत्ते लशुन से कुछ छोटे होते हैं।

निर्णयसिन्धु की टिप्पणी में गृञ्जन को प्याज के ही सदृश कन्द माना है। देखिये :—

गन्धाकृतिरसैस्तुल्यं गृञ्जनन्तु पलाण्डुना।
सूक्ष्मनालाग्र-पत्रत्वात् भिद्यतेऽसौ पलाण्डुना॥

इससे भी यह सिद्ध होता है कि पलाण्डु के आकार का ठीक उसका दूसरा भाई गृञ्जन है, अन्तर इतना ही है कि इसके नाल और पत्ते प्याज से कुछ ही भिन्न होते हैं।

हमारा प्रस्तावित 'गृञ्जन' आकृति और रस में प्याज से भिन्न नहीं है। विना नाक के पास लेजाए इसे कोई भी नहीं कह सकता कि यह प्याज नहीं है।

दूसरे भावमिश्र के निघण्टु में :—

'गृञ्जनं गाजरं प्रोक्तं तथा नागरङ्गवर्णकम् ।'

इसमें भावमिश्र ने गाजर और गृञ्जन को एक बतलाते हुए भी उसका जो रङ्ग बतलाया है वह हमारे गृञ्जन में मौजूद है। इसमें हलका सा जर्द रङ्ग (जर्दी माइल सफेद) स्पष्ट दीखता है जो प्याजी रङ्ग से बिलकुल भिन्न है।

याज्ञवल्क्य के टीकाकारने 'लोहित-सूक्ष्म-कन्दम्' जो लिखा है, उसमें लोहित का अर्थ लाल है। सम्भव है यह 'लोहित' शब्द लगभग उसी जर्दी-माइल के लिये लिखा गया हो। 'सूक्ष्म' और 'लशुनानुकारी' दोनों शब्द यह स्पष्टतया बतलाते हैं कि वह लशुन या प्याज के समान छोटा है, शलगम तो बड़े से बड़ा भी होता है।

राजनिघण्टुकार ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है —

गृञ्जनं शिखिमूलञ्च यवनेष्टञ्च वर्तलुम् ।
ग्रन्थिमूलं शिखाकन्दं तथा डिण्डीरमोदकम् ॥

इन नामों की निरुक्ति भी हमारे गृञ्जन पर सार्थक होती है। यह गृञ्जन 'यवनेष्ट' अर्थात् यवनों को प्रिय है। हमारे यहाँ जुलाहे तारवाले रेशमी कपड़ों पर माँड़ी चढ़ाने के लिये इसका बहुत उपयोग करते हैं और वे इससे अत्यन्त परिचित भी मालूम होते हैं।

'वर्तुलम्' से इसका गोल होना स्पष्ट है। 'ग्रन्थिमूल' और 'शिखाकन्द' शब्द भी सार्थक ही हैं, 'डिण्डिर मोदक' शब्द का अर्थ है 'फेन का लड्डू' उसके स्वरूप देखने से यह नाम भी अन्वर्थ मालूम होता है।

धन्वन्तरि निघण्टुकार ने जो गृञ्जन को पाँच प्रकार की मूली में तीसरे प्रकार की मूली माना है-यह भी ठीक ही जान पड़ता है। इसमें मूली के सभी लक्षण मिलते हैं। अन्तर केवल लम्बाई और गोलाई का है। सम्भव है यह गोलमूली हो, क्योंकि इसका गोल-स्वरूप अनेक बार वर्णन किया गया है।

चरक के टीकाकार चक्रपाणि ने जो दो तीन वार इसका वर्णन करने में धोखा खाया है, वहाँ उसका 'गृञ्जनकः स्वल्पनालपत्रः पलाण्डुरेव' लिखना इसी गृञ्जन को लक्ष्य करके ही हो सकता है।

सुश्रुत का 'रसोन भेदः' लिखना भी इसीकी पुष्टि करता है।

अमरसिंह भी इसे लशुन का एक भेद ही मानते हैं :—

"लशुनं गृञ्जनामश्च महाकन्दरशोणकः ।'

इससे 'वनपलाण्डु' या 'वनप्याज' को ही यदि गृञ्जन माना जाय तो क्या हानि है ? कैयदेव के कथनानुसार भी उसे गृञ्जन माना जा सकता है।

पूर्व भारत में यह कदली के नाम से प्रसिद्ध है। यह तो हुई स्वरूप-चर्चा अब जरा गुणों पर भी विचार करना आवश्यक है।

'वनौषधि' के द्वितीय अङ्क में पं० भगीरथ स्वामी जी का समर्थन करते हुए 'बूटीदर्पण' के भूतपूर्व सम्पादक बाबू रूपलाल वैश्य ने इसके गुणों पर जोर देकर शलगम को ही गृञ्जन मान लिया है।

गृञ्जन के लिये महर्षि चरक लिखते हैं :—

ग्राही गृञ्जनकस्तीक्ष्णो वातश्लेष्मार्शसां हितः ।
स्वेदनेऽभ्यवहारे च योजयेत्तमपित्तिनाम् ।

—चरक, अ० २७, सूत्र १७२

इस श्लोक के अनुसार जो गुण कदली में पाए जाते हैं वे शलगम में कदापि नहीं है।

चरक के मतानुसार गृञ्जन ग्राही, तीखा, वायु, कफ और बवासीर को दूर करने वाला है। इसे स्वेदन करने या खाने के काम में लाना चाहिये लेकिन पित्तवालों को नहीं।

इसीके अनुसार कुछ घटा बढ़ा कर सभी ने इसके गुण लिखे हैं।

क्या यह गुण शलगम में पाये जाते हैं? हमारी समझ से अभीतक किसी ने इसका अनुभव नहीं किया होगा। हमारे अनुभव से तो शलगम गृञ्जन के समान तीक्ष्ण नहीं है। गृञ्जन अति तीक्ष्ण है। ग्राही तो प्रायः सभी कन्द होते हैं, अतः इन दोनों में ग्राहित्वरूप सामान्यधर्म का होना प्राकृतिक है। वायु और कफ के लिये गृञ्जन का सैकड़ों बार प्रयोग करके देखा गया है। हमारी समझ से शलगम, कफनाशक होने के बजाय कफवर्द्धक ही होनी चाहिये। वायुवर्द्धक भी होतो आश्चर्य नहीं। अर्श पर शलगम का प्रयोग होते नहीं देखा गया है। इस गृञ्जन के गुणों को देखते हुए अनुमान भी होता है कि यह बवासीर पर अवश्य सफल हो सकता है।

फिर और देखिये—स्वेदन में इसका उपयोग होता है। इस गृञ्जन का वायुकी पीड़ा जोड़ों का अकड़ना और गठिया आदिपर पोटली बनाकर अनेक वर्षों तक और अनेक रोगों पर व्यवहार किया गया है। जहाँ जहाँ प्याज की पोटली का प्रयोग किया जाता है, वहाँ वहाँ इसकी पोटली का प्रयोग उससे अधिक और शीघ्र लाभकारी सिद्ध हुआ है।

खाने में यह कटु अवश्य है, लेकिन वायुनाशक, पेट के कृमियों का और गुल्म का नाशक भी है।

इसका सब कुछ प्याज के ही ऐसा है इसे टाल लगा कर रख देने से प्याज के समान इसमें भी अङ्कुर उत्पन्न हो जाते हैं। इसे मिट्टी में गाड़ देने से अपने आप ही पत्ते निकल आते हैं जो प्याज के ही समान कुछ छोटे होते हैं। हमारे पास पं० लक्ष्मीनारायण जी शर्मा की कृपा से यह अधिक मात्रा में प्रस्तुत है। जिन्हें मँगाना हो वे मँगाकर स्वयं देख सकते हैं।

अस्तु, जो भी हो, हमने इसे विज्ञ पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया है। पत्तों के उग आने पर हम अगले अङ्क में इसका पूरा पूरा चित्र भी दे सकेंगे। यदि यह गृञ्जन सिद्ध न हो तो और दूसरी कोई चीज भी इसी प्रकार की हो सकती है। हमारे मत से शलगम गृञ्जन कदापि नहीं हो सकता।

आशा है विज्ञ वैद्य गण इस पर पूर्ण विचार कर इस प्रश्न को अवश्य हल करेंगे।

वनौषधि का महत्व

श्रीयुत पं० वदरीनाथजी वैद्य, आयुर्वेद-पञ्चानन

संसार की सर्वप्रथम पुस्तक ऋग्वेद में अनेक वनौषधियों के वर्णन मिलते हैं। इसके अष्टम अष्टक के पाँचवें अध्याय के आठवें वर्ग में तो अनेक औषधियों की स्तुतियाँ भरी पड़ी हैं। उदाहरणार्थ दो तीन मन्त्र यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

या ओषधीः पूर्वजाताः देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।
मनैनुवभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च॥

अर्थात्—जो सोम आदि औषधियाँ देवताओं से तीनयुग पूर्व, अथवा वसन्त, वर्षा और शरद्-इन ऋतुओं में उत्पन्न हुई हैं उन तेजस्विनी औषधियों के १०७ या अपरिमित स्थान वा जन्म मैं मानता हूँ।

शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो सहः।
अधा शतक्रत्वो यूयमिमं मे अगदं कृत॥

अर्थात्—हे मातृतुल्य भरण पोषण करनेवाली औषधियों! आपके सैकड़ों स्थान हैं और हजारों उद्गम हैं अपने रस-गुण-वीर्य-विपाक आदि द्वारा अनेक कार्य करनेवाली आप सब प्राणियों को और मुझे भी नीरोग करो।

औषधीः प्रतिमोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः।
अश्वा इव सजित्वरी वीरुधः पारयिष्णवः॥

हे ओषधियो! आप रोगियों पर प्रसन्न हों। आप पुष्पों और फलों वाली हैं। अच्छे घोड़े के समान रोगों को जीतते हुए पुरुषों को नीरोग करने वाली हो।

वेदों के मन्त्र और ब्राह्मण दोनों भागों में अष्टाङ्ग आयुर्वेद के सभी विषयों पर अनेक मन्त्र मिलते हैं। इसीलिए आयुर्वेद को वेद का अङ्ग या उपाङ्ग माना गया है। इसकी उत्पत्ति और प्रचार के सम्बन्ध में कहा जाता है।

यदा मत्स्यावतारेण हरिणा वेद उद्धृतः।
तदा शेषश्च तत्रैव वेदं साङ्गमवाप्तवान्।
अथर्वान्तर्गतं सम्यगायुर्वेदञ्च लब्धवान्।
एकदा स महीवृत्तं द्रष्टुं चर इवागतः।
तत्र लोकान् गदैर्ग्रस्तान् व्यथया परिपीड़ितान्।
स्थलेषु वहुषु व्यग्रान् म्रियमाणाँश्च दृष्टवान्।
तान् दृष्ट्वा दयया युक्तस्तेषां दुःखेन दुःखितः।
अनन्तश्चिन्तयामास रोगोपशमकारणम्।
सञ्चिन्त्य स स्वयं तत्र मुनेः पुत्रो बभूव ह।
प्रसिद्धस्य विशुद्धस्य वेदवेदाङ्ग वेदिनः।
यतश्चर इवायातो न ज्ञातो केनचिद्यतः।
तस्माच्चरक नाम्नासौ विख्यातः क्षितिमण्डले।
स भाति चरकाचार्यो वेदाचार्यो यथादिवि।
सहस्रवदनस्यांशो येन ध्वंसो रुजां कृतः।
आत्रेयस्य मुनेः शिष्या अग्निवेशादयोऽभवन्।
मुनयो वहवस्तैश्च कृतं तन्त्रं स्वकं स्वकम्।
तेषां तन्त्राणि संस्कृत्य समाहृत्य विपश्चिताम्।
चरकेणात्मनो नाम्ना ग्रन्थोऽयं चरकः कृतः।

अर्थात्—जब मत्स्यावतार में भगवान् ने वेदों का उद्धार किया उस समय शेषनाग ने समस्त वेदों का साङ्ग अध्ययन किया। उसी समय उन्हें अथर्ववेदान्तर्गत आयुर्वेद भी प्राप्त हुआ। एक वार शेषभगवान् ने पृथ्वी का समाचार जानने के लिये गुप्तचर के वेश में मर्त्यलोक की यात्रा की। वहाँ पर विविध-व्याधि-पीडित नारकीय-यन्त्रणा में पड़े हुए मानवों को देख कर उन्हें वहुत दुःख हुआ।

इसीलिये उन्होंने परमप्रसिद्ध महर्षि अत्रिमुनि के पुत्र रूप से गुप्तरूपेण अवतार लेकर चरक की रचना की। वे चर के समान आये थे इसलिये चरक के नाम से प्रसिद्ध हुए।

आत्रेय के शिष्यों में अग्निवेश, भेड, जातूकर्ण, पराशर, क्षारपाणि और हारीत ये छः प्रधान शिष्य थे। उन्हीं की भिन्न २ संहिताओं के उत्तमोत्तम विषयों का सङ्कलन करके चरकसंहिता का निर्माण किया गया है।

चरक के अनुसन्धान करनेवाली संस्था बनाने के लिये वैद्य समूह की आवश्यकता है, जैसा कि पहिले से होता आया है। यदि विद्वान् वैद्यगण स्वार्थ, अभिमान आदि छोड़ कर सम्मिलित हों और अनुसन्धान करें तो वस्तुतः इसे सफलता मिल सकती है। अस्तु,

आयुर्वेद को प्राचीनता और उत्पत्ति के सम्बन्धमें वैद्य पाठकों से अधिक कुछ कहना व्यर्थ है। ब्रह्मा से लेकर आयुर्वेद शास्त्र की उत्पत्ति का वर्णन चरक में आया ही है। इसके अतिरिक्त पुराणों में भी सविस्तर वर्णन पाया जाता है। सुश्रुत-संहिताकार धन्वन्तरि ने शल्यशास्त्र को आयुर्वेद का प्रधान अङ्ग मानते हुए लिखा है:—

एतद्ध्यङ्गं प्रथमं प्रागभिघातव्रणसंरोहाद्यज्ञशिरःसन्धानाच्च। श्रूयते हि यथा रुद्रेण यज्ञस्य शिरश्छिन्नमिति। ततो देवा अश्विनावभिगम्योचुः। भगवन्तौ नः श्रेष्ठतमौ युवां भविष्यथः। भवद्भ्यां यज्ञस्य शिरः सन्धातव्यम्। तावूचतुरेवमस्त्विति। अथ तयोरर्थे देवा इन्द्रं यज्ञभागेन प्रासादन्। ताभ्यां यज्ञस्य शिरः संहितमिति। अष्टास्वपि चायुर्वेदतन्त्रेषु-एतदेवाधिकमभिमतमाशुक्रियाकरणाद्यन्त्रशस्त्रक्षाराग्निप्रणिधानात् सर्वतन्त्रसामान्याच्च। तदिदं शाश्वतं पुण्यं स्वर्ग्यं यशस्यमायुष्यं वृत्तिकरञ्च।

हमलोग इन यथार्थ फलश्रुतियों को पढ़ते ही रह गये, लेकिन पाश्चात्यविद्वान् इसपर निरन्तर अभ्यास करके शल्यतन्त्र को समुन्नति की पराकाष्ठा तक् पहुँचे जा रहे हैं। फलश्रुति का अक्षरशः लाभ उठा रहे हैं और हम अपने वैज्ञानिक महर्षियों की बातों पर विश्वास करके भी अपनी अकर्मण्यता के कारण अतितुच्छ हुए जा रहे हैं। हमारी यह स्थिति इस एक किम्वदन्ती के आधार पर हुई हैं।

रसवैद्यो देववैद्यो मानुष्यो मूलकादिभिः।
आसुरः शस्त्रदाहाभ्यां सिद्धवैद्यस्तु मान्त्रिकः।

ऐसे ऐसे तुच्छ वाक्यों को तो हमने अपना आदर्श बना लिया। लेकिन धन्वतरि के इस वाक्य पर ध्यान नहीं दिया:—

तदिदं शाश्वतं पुण्यं स्वर्ग्यं यशस्यं आयुष्यं वृत्तिकरञ्च।

अश्विनी-कुमारों ने देवासुरसङ्ग्राम में असुरों के शस्त्रास्त्रों से क्षत-विक्षत (घायल) देवों को चिकित्साकर क्षतरहित (आरोग्य) किया। यह कर्म उस समय अद्भुत माना गया। दक्ष यज्ञकाल में रुद्रकोप से इन्द्र को भुजस्तम्भ (वातव्याधि) हो गया, उसे अश्विनी-कुमारों ने आरोग्य किया। सोम (ओज) से क्षीण होने से राजा चन्द्रमा को क्षय-राजयक्ष्मा हुआ, अश्विनी कुमारों ने आरोग्य किया। पूषादेव के दांत गल के गिर गये, उसे इन्होंने आरोग्य किया। भगदेव के नेत्र नष्ट होगये, उन्हें भी को आरोग्य किया। शस्त्र-चिकित्सा, दन्त चिकित्सा, नेत्र-चिकित्सा का कितना पुरानापन है। दुःख है कि हमारे प्रारब्ध और प्रमाद से अब हमारे पास कुछ नहीं है। सहयोग से पाश्चात्य

देश में सब कुछ है और वहाँ से शिक्षा लेनी पड़ती है। पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि पाश्चात्यदेशों में भी सभी विद्यायें गयी हैं भारतवर्ष से ही।

ऋग्वेद ६-११२ रुतं भिषक् इत्यादि ऋचाओं में वैद्यका नाम आता है।

५-७४-५ में अश्विनी कुमारों की चिकित्सा का वर्णन सुस्पष्ट है। युवं च्यवानमश्विना जरन्तं पुनर्युवानं चक्रथुः शचीभिः। इत्यादि मन्त्रों में अत्यन्त बूढ़े बलहीन भार्गवच्यवन का राजकन्या के साथ विवाह होने से और पत्नीकी जवानी को देख उसके प्रार्थना का ध्यान कर अश्विनी कुमारों की आराधना करने पर उन्हीं की चिकित्सा और कृपा से फिर वीर्य, वर्ण, स्वरयुक्त-युवात्व प्राप्त हुआ।

यह कथा महाभारत में विस्तृत रूप से है। इत्यादि कार्यों से वे दोनों देवसमाज में तथा ऋषि समाज में भी परम पूजनीय और यज्ञभागी हुए।

इन बातों से यह सहज ही समझ में आ सकता है कि हमारा आयुर्वेद-शास्त्र कितना प्राचीन, पूर्ण और समुन्नत था। आज की परिस्थिति से उसकी तुलना करते हुए हृदय क्षोभ, दुःख और नैराश्य से भर जाता है। [क्रमशः]

यकृत् के कार्य

श्रीचन्द्रदत्त त्रिपाठी, शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य

यकृत् हमारी शारीरिक ग्रन्थियों में एक बृहत्तम मुख्य ग्रन्थि है। इस ग्रन्थि के भीतर बहुत से कार्य सम्पादित होते हैं। जिनमें किसी प्रकार रुकावट पैदा हो जाने से रोगोत्पत्ति का कार्य आरम्भ हो जाता है। अनेकों बीमारियाँ ऐसी हैं जो यकृत्-कार्य के यथाविधि न होने से ही उत्पन्न हो जाती हैं। और हमको उन रोगों के कारण का ठीक ठीक परिज्ञान नहीं होता। यदि हमें यकृत् के कार्यों का भलीभाँति ज्ञान रहे तो, हम उन कार्यों के प्रतिरोध से उत्पन्न हुये विकारों के कारण को जान चिकित्सा में सफल हो सकते हैं। अतः प्रत्येक विचारशील पुरुषों को यकृत् के कार्य से परिचित रहना चाहिये। क्योंकि इसका हमारी शारीरिक बीमारियों से कार्य और कारण का सम्बन्ध है।

हमारे प्राचीन आचार्यवृन्दों ने यकृत् का प्रधान कार्य शोणित-निर्माण करना ही माना है। कारण यह कि पित्त पाँच प्रकार का है; रञ्जक, पाचक, आलोचक, साधक, भ्राजक। इसमें रञ्जक पित्त का स्थान यकृत्प्लीहा है। तथा उसका कार्य रस को रञ्जन करना है।

जब पञ्चभौतिक सारभाग रस यकृत्प्लीहा को प्राप्त होता है, तभी उसी स्थान पर रञ्जकपित्त से वह अत्यन्त लोहित भाव को प्राप्त हो जाता है और उसकी संज्ञा रक्त होती है। इसी विधि से रस से रक्त बनता है। यह कार्य यकृत् में होता है, अतः यकृत् का कार्य कहा जाता है। महर्षि सुश्रुत ने कहा भी है :—

"स खल्वाप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति"

अर्थात् वह जलीय सर यकृत्प्लीहा में जाकर

रक्तता को प्राप्त होता है। अतः यकृत् का प्रथम कार्य शोणितनिर्माण ही प्राचीन ऋषियों की सम्मति में सिद्ध हुआ है।

किन्तु अर्वाचीन वैज्ञानिकों की गवेषणा इससे बिलकुल भिन्न है। उन विद्वानों का कथन है कि यकृत् का मुख्य कार्य पित्तोत्पादन है। पित की उत्पत्ति यकृत् में होती है। अतः पित्तोत्पादन ही यकृत् का मुख्यतम कार्य है। इसके अतिरिक्त यकृत् के अन्य कार्य भी होते हैं। जिनमें पित्तोत्पादन प्रथम कार्य है।

इसका प्रधान कार्य शर्करा संग्रह करना है। क्लाडवर्नर्ड महोदय ने पता लगाया है कि यकृत् के अन्दर एक ऐसी वस्तु है, जो कि शर्करा रूप में परिणत हो जाती है, ग्लायकोजिन (Glycogen) उसका नाम है। किन्तु पेवी महानुभाव का मत है कि जीवनपर्यन्त यकृत् के अन्दर ऐसी कोई भी शक्ति नहीं रहती जो कि ग्लायकोजिन पदार्थ को शर्करा रूप में परिणित कर सके। और न तो इस प्रकार की कोई क्रिया ही होती है। परन्तु आधुनिक वैज्ञानिकों का यही मत है कि ग्लायकोजिन पदार्थ शर्करा रूप में परिवर्तित होता है और यह क्रिया यकृत् सेल्स (Liver cells) के भीतर होती है। यकृत् सेल्स के (कोषाणु) भीतर एक ऐसी वस्तु है, जिसकी क्रिया से उक्त कार्य होता है।

यकृत् का तृतीय कर्म वसाविभाजन रूप है। जब कि वसा सौत्रिकतन्तुओं द्वारा वसाम्लरूप को प्राप्त होता हुआ यकृत् में जाता है, तभी वसाम्ल का विभाजन प्रारम्भ हो जाता है।

मूत्र के अन्दर युरिया नामक (Urea) एक पदार्थ होता है, उसे भी यकृत् ही उत्पन्न कर्ता है। अतः यह यकृत् का चतुर्थ कर्म हुआ।

पञ्चम कर्म यकृत् का विषान्वित पदार्थों का निर्विषीकरण है। यही आये हुये अशुद्ध रक्त का दोष दूर होता है। हमारे शरीर में प्रायः अन्नप्रणाली के मध्य में विषानुगतपदार्थों को उत्पत्ति हुआ करती है, जब कि ये पदार्थ यकृत् में हैं, तो यकृत् उनसे ऐसे प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करता है, कि वे किसी प्रकार शरीर के लिये घातक वा विकारोत्पादक नहीं होते।

इस प्रकार साधारणतया आधुनिक अन्वेषकों की गवेषणा यकृत् के पाँच कार्यों को बतला रही हैं। और इन कार्यों की विगुणता ही यकृत् रोगों का मुख्यतम कारण है।

कर्णिकार में भारी भूल

प्रोफेसर—भगीरथ स्वामी, आयुर्वेदाचार्य

काशी के चरक-अनुसन्धान-भवन से प्रकाशित 'वनौषधि' की प्रथम संख्या में चम्पारण-निवासी पं० चन्द्रशेखरधर मिश्र, चिकित्सक-चूड़ामणि महाशय का एक सुन्दर एवं छोटासा लेख प्रकाशित हुआ है। उक्त लेखक महोदय ने कर्णिकार को एक छोटासा वृक्ष माना है। परिव्याध, द्रुमोत्पल और वृक्षोत्पल आदि पर्याय लिखे हैं। अपढ़ लोगों ने उसका अर्थ कनेर समझ रक्खा है यह भी भयानक भूल है यह लेखकों की अनभिज्ञता से हुआ है।

श्रीमान् पण्डित चन्द्रशेखरधरजी ने जो कर्णिकार के तीन पर्याय वाचक शब्द लिखे हैं वे तो ठीक ही हैं, लेकिन इसका अर्थ जो उलटकम्बल किया है—वह प्रमाणशून्य है। प्रमाण में दिये गए कालिदास के पद्यों में जिस कर्णिकार की चर्चा है, वह वस्तुतः कृतमाल (अमलतास) है।

राज निघण्टु के देखने से पता चलता है कि कर्णिकार शब्द छोटी फली वाले अमलतास या गणेरुक का वाचक है।

गणेरुकः कर्णिकारः कर्णिश्च गणकारिका।
गणेरुः शोथ-निश्शोफ-श्लेष्म-श्रवण-कुष्ठनुत्।
—राजनिघण्टु परिशिष्ट

इससे गणेरुक गणिकारिका का नाम है। गणेरुक-शब्द चार अर्थों में लिखा गया है—वसन्त दूती, पाटलिका, कोकिला और गणियारी। परिव्याध शब्द का अर्थ जलवेतस और कर्णिकार दोनों ही है और कर्णिकार शब्द अमलतास का वाचक है। हमारी समझ से यही उचित भी मालूम होता है।

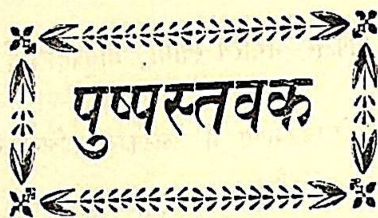
वैद्यक शब्द-सिन्धु में कर्णिकार का अर्थ द्रुमोत्पल करके आगे बङ्गभाषा में उलटकम्बल लिखकर यह धाँधली मचादी है।

शब्द-कल्पद्रुमकार ने कर्णिकार को स्थलपद्म, द्रुमोत्पल आदि लिखकर बङ्गला में उलटकम्बल और अंग्रेजी में एब्रोमा अंगुष्टा (Abroma angustha) लिखा है। प्रमाण में राजनिघण्टु तथा रसमाधव का नाम लिखा है।

यद्यपि राजनिघण्टु में द्रुमोत्पल शब्द परिव्याध शब्द अवश्य हैं परन्तु वे अमलतास के लिये प्रयुक्त हैं, उलट कम्बल के लिये नहीं। ऐसा ही रस माधव में भी है।

वैद्यक शब्द-सिन्धु में "स्थलपद्मं स्वनामख्यात पुष्पविशेषे। स्थलपद्मं अनेकविधम्। छत्रपत्रम्, तमालम्, दूष्टिकृतम्। तच्चतुर्विधम्। चतुर्धा स्थल पद्मानि—सेवन्ती, गुलदाउदी, नेपाली च, गुलावश्च कदम्बः प्रोच्यते" लिखा। आगे स्थलपद्मः मानकेच्चु (मानकन्दः) इस प्रमाण से मालूम होता है कि वैद्यक शब्द सिन्धुकार ने जो चाहा मनमाना लिख डाला है, इस विषय में वे स्वयं भ्रान्त हैं। जैसे चार प्रकार के स्थल पद्म लिखकर फिर मानकेच्चु को स्थलपद्म लिख डालना—यह अज्ञानता के लक्षण हैं। कितने ही स्थलों में निघण्टुकारों ने इस प्रकार घपला कर दिया है—इसका विचार बहुत सोच समझ कर करना चाहिये।

प्रकृत अवस्था से उलट जाने के कारण इसका नाम उलट कम्बल लिखा गया है। कितने ही बङ्गाली कविराज इसको भारद्वाजी कहते हैं। भारद्वाजी नाम वनकार्पास का है। इसमें कार्पास का एक भी लक्षण नहीं मिलता।



बाँस की उपयोगिता।

छिन्नः सनिशितैः शस्त्रैर्विद्धश्च नव-सप्तधा।
तथापि हि सुवंशेन विरसं नापजल्पितम्॥

वनस्पतियों में 'बाँस' वहुत प्रसिद्ध है। देहातों में तुरत व्याई हुई गाय-भैंस को बाँस की हरी-हरी पत्तियाँ खिलाते हैं। शौकीन लोग बाँस की कोंपल का अचार वनाते हैं। विशेषतः हिन्दुओं के लिए बाँस वड़ा उपकारी है। विवाह-मण्डप की रचना बाँस ही से होती है। किसी के मरने पर मुर्दे की अरथी भी बाँस ही को वनती है। देहातों में मकान वनाने के लिए, बाँस ही का अधिकतर उपयोग होता है। गुड़ की राव को ठोस वनाने के लिए किसान लोग जव उसे गड्ढे में ढालते हैं तव गड्ढे को पेंदी में और किनारे-किनारे बाँस हो की सुपलियाँ (जड़ के पास के चौड़े और सूखे पत्ते) को विछाते हैं। 'बँसफोर'-जाति के लोग (डोम?) गाँवों में बाँस ही के वल पर जीविका निर्वाह करते हैं। बाँस के अतिरिक्त किसी एक वनस्पति पर कोई सारी जाति आश्रित नहीं है।

छड़ी, सोटा, डण्डा, लाठी आदि देहाती हथियार केवल बाँस ही के वनते हैं। बाँस से और भी कितने ही प्रकार के काम सरते हैं—टोकरी बँगेली, सूप, चलनी, पङ्खा, चटाई, मोढ़ा, कुर्सी, मेज, सन्दूक आदि सैकड़ों वस्तुएँ वनती हैं। ध्वजा के लिए बाँस, तम्बू-खीमे के लिए बाँस, मचान के लिए बाँस, वैल-गाड़ी के लिये बाँस, खाट के लिये बाँस, घेरे डालने के लिए बाँस, जालीदार टट्टर वनाने के लिए बाँस-कहाँतक गिनाया जाय, वच्चों के खिलौने तक लिए बाँस की आवश्यकता पड़ती है। वूढ़ों के लिए बाँस ही की लकुटी सहारा वनती है। सम्भवतः बाँस के समान उपयोगी वनस्पति कोई नहीं है। बाँस के उपयोग गिनाये नहीं जा सकते। बाँस ही की बाँसुरी वजाकर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने पृथ्वीपर सुरलोक को उतारा था। संस्कृत और हिन्दी के साहित्य में बाँस का विपुल वर्णन भरा पड़ा हैं। महाकवि कालिदास ने 'रघुवंश' के द्वितीय-सर्ग में "स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम्।" लिखकर बाँस को अमर कर दिया है। हिन्दी के महाकवि तुलसीदास ने जनकपुर के विवाह-मण्डप का सर्वाङ्गसुन्दर वर्णन करते हुए बाँस को यथोचित आदर प्रदान किया है। व्रजभाषा-साहित्य में भगवान् वंशीधर की बाँसुरी ने बाँस को गोपियों से गालियाँ भी सुनवाई हैं और देवनाङ्गनाओं से बाँस के भाग्य की प्रशंसा भी कराई है। वनमाली को बाँसुरी ही की वदौलत कल्पद्रुम की शाखाओं ने बाँस के भाग्य पर ईर्ष्या प्रकट की है। यदि ऐसा न होता तो सूरदास और विहारीलाल के सदृश महाकवि बाँस को भला कैसे याद करते। जान पड़ता है कि बाँस ही वनस्पतियों का राजा है।

[पृष्ठ ९० का शेषांश]

वनौषधि-दर्पणकार कविराज विरजाचरण गुप्त ने स्पष्ट लिख दिया है कि इसका संस्कृत नाम नहीं मिलता, अतः इसके लिये खींचातानी करना व्यर्थ है। कर्णिकार वास्तव में अमलतास का ही भेद है।

इधर बाग में फल-भार-नम्र विटप को बाँस की थुन्नियाँ सम्हालती हैं। उधर जङ्गल में बाँसों के सङ्घर्ष से उत्पन्न दावानल वनस्पति-समुदाय को भस्म कर डालता है। राजा या शासक के दोनों लक्षण उपयुक्त हैं। साहित्य-सागर मथने पर बाँस के सम्बन्ध में और भी बहुत-सी बातें मिल सकती हैं। आयुर्वेद के विद्वान् तो जानते ही होंगे कि बाँस कितनी उपयोगी वनौषधि है। बाँस की जड़ और पत्तियों से गँवार देहाती लोग कितनी ही चुटकीली दवाएँ बना लेते हैं। इस साल के भूकम्प ने विहार में बाँस की बहुमूल्यता भलीभाँति सिद्ध कर दी है। सच पूछिये तो बाँस की सुन्दरता भी किसी वनस्पति से कम नहीं है। बाँस की कोठी लगाना—बाँस रोपना—हिन्दुओं में बड़े पुण्य का काम समझा जाता है। वंश-निकुञ्ज की निराली हरियाली और शोभा शहरों से निकलकर देहात की बस्तियों में देखिये। आजतक पुरानी बस्तियों के चारों ओर बाँस की घनी कोठियाँ किले की दीवार और सुदृढ़ मढ़ी का काम कर रही हैं। आधुनिक हिन्दी-साहित्य के महारथियों में सबसे बूढ़े व्यक्ति 'पण्डित अमृतलाल चक्रवर्त्ती' ने गत चैत्र के मासिक 'विश्वमित्र' में, 'आत्म-संस्मरण' का श्रीगणेश करते हुए, बाँस की उपयोगिता और महत्ता इस प्रकार बताई है—

"दार्शनिक कवि-औपन्यासिक पूजनीय बङ्किमचन्द्र ने मेरे बचपन के दिनों के बङ्गाल के वीर-पुत्रों के हाथों की बाँस की विराजती हुई लाठी के चमत्कार-मात्र का यशोल्लेख कर बङ्ग-साहित्य को गौरवान्वित किया है। अब हिन्दी-साहित्य-मात्र के रसिक भी अपने ही साहित्य में उसके पठन-सुख का उपभोग कर हिन्दी-साहित्य-सेवियों की कृति का आभार मानते हैं। गवर्नमेण्ट के तात्कालिक ठगी और डकैती विभागीय कुछ अत्युत्साहियों से आतङ्कित होकर जब बङ्गालियों ने लाठी फेंक दी, तो उस वंश-दण्ड की प्रतिष्ठा, अनुरागी नागरिक बङ्किमचन्द्र केवल लाठी ही पर डट बाँस की ग्राम्य उपकारिता को दृष्टिकोण के अन्तर्गत करने में असमर्थ हुए। बाँसों का घना वन यदि बङ्गाल के भवनों, गृहों और कुटीरों के विशेषकर उत्तर और दक्षिण ओर रहे तो बलवान् से बलवान् तूफ़ान का समूचा वेग उस वन में लग कर खर्च हो जाता है, भवनादि तक नहीं पहुँच पाता और तूफ़ान में यह सामर्थ्य नहीं कि परस्पर लम्बी-लम्बी शाखाओं और अंकड़ियों से संयुक्त बाँसों की एक समूचे कुञ्ज को सपाटे से गिरा दे। इसके उपरान्त बाँस का पत्ता गौओं का बढ़िया से बढ़िया चारा है। बाँस की शाखाओं से झोपड़ियों को घेर कर यदि छेदों पर मिट्टी लीप दी जाय तो वे घेरे दीर्घस्थायी होते हैं और उनपर चोर सहसा सेंध नहीं काट सकते। मिट्टी की दीवार बनाते समय उसके भीतर प्रति बालिश्त पर यदि डाल-पल्लवों सहित एक-एक समूचा बाँस रख दिया जाये तो उसकी दीवार ईंटों की दीवार-सी दृढ़ होती है और चोर उसमें सेंध काटने लगकर थक जाते हैं। इसके उपरान्त कच्चे गृहों के बल्ले, शहतीर और ओसारों पर छप्पर रखने के खम्भे बाँस के होते हैं तथा बाँस को चीर-फाड़ छप्पर बनाकर वह फूस से छवाई जाती है। धान रखने का 'गोला' कहलानेवाला छोटा या बड़ा आगार भी गोलाकार घेरे का बाँस चीर-फाड़कर बनाया जाता है। चार-पाँच बरसों का पका बाँस यदि काटकर दस-पन्द्रह दिन जल में भिगोया जाये तो न तो वह कभी

धुनता है और न पुश्तों में उसका गृहस्थित कोई अंश टूटता-बिगड़ता है। अतः बाँस बङ्गाल के ग्रामवासी सर्वसाधारण गृहस्थों का निवासस्थान बनाने का अत्यावश्यक सर्वप्रधान अवलम्बन है।"

क्या अब भी आप बाँस को सर्वश्रेष्ठ वनस्पति नहीं मानेंगे?

—शिवपूजनसहाय

सौन्दर्यप्राप्ति के सरल साधन।

प्रयोगों की सूची देने से पूर्व भोली-भाली स्त्रियों को यह बतला देना आवश्यक समझते हैं कि, सौन्दर्य कोई ऐसी चीज नहीं जिसे वे ग्रह-शान्ति, मन्त्र-तन्त्र, पुड़िया-तावीज या विज्ञापन-बाजों की नकली और हानि-प्रद वस्तुओं या दवा-इयों से प्राप्त कर सकें। जीवन के अन्यान्य आव-श्यक कार्यों की उपेक्षा कर, केवल सौन्दर्य की साधना में ही दुर्लभ जीवन का अमूल्य समय नष्ट करना या पानी की तरह पैसा बहाना, बुद्धि-सङ्गत नहीं कहा जा सकता। उसके लिये तो:—(१) सदा निश्चिन्त और प्रसन्न-चित्त रहना (२) स्वच्छ, हवादार खुले स्थानों में अधिक रहना, (३) विचार और आचरण शुद्ध रखना, (४) जहाँ तब बने प्रकृतिक नियमों की अव-हेलना न हो,(५)दिनचर्या में बराबर रद्दोबदल होतो रहे (६) भोजन सात्विक हो और समय पर किया जाय, (७) व्यायाम निय-मित रूप से किया जाय, (८) जल काफी पिया जाय तथा प्रतिदिन कम-से-कम एक बार ठण्ढे जल से स्नान किया जाय, (९) गहने न पहिने जायं, (१०) बाजारू तेल, उबटन तथा औषधियों का प्रयोग न किया जाय, (११) शयन और शौच में अनियमितता न हो।

—'सहेली' प्रयाग



अ० भा० आयुर्वैदिक प्रदर्शनी, छिन्दवाड़ा

आल इण्डिया, आयुर्वैदिक फार्मेसी लिमिटेड की ओर से, अखिल भारतवर्षीय-आयुर्वैदिक-प्रदर्शनी, आषाढ़ शु० ४ सं० १९९१ वि०, रविवार, ता० १५ जुलाई सन् १९३४ ई० से २१।७।३४ तक चन्द्रगुप्त भवन, नागपुर रोड, छिन्दवाड़ा (मध्यप्रान्त) सी० पी० में होगी।

इस प्रदर्शनी में आयुर्वेद के अस्त्र शस्त्र, यन्त्रादि प्रदर्शन, और आयुर्वैदिक क्रियाओं द्वारा वैज्ञानिक रहस्य एवं सत्व, क्षार, टिंचर, पाउडर (चूर्ण), पिल्स (बटी), लोशन, इन्जेक्शन, आसव, रसायनादि बनाने की प्रक्रियाओं का भी दिग्दर्शन कराया जायगा, आयुर्वेद के अलभ्य ग्रन्थरत्न, निबन्ध, पुस्तक और समाचारपत्रों के संग्रह रहने के साथ ही भारत के प्रसिद्ध विद्वान् चिकित्सकों के लेख, निबन्ध एवं भाषणादि का भी अच्छा समारोह रहेगा।

उक्त फार्मेसी द्वारा उपस्थित प्रदर्शन के योग्य वस्तुओं के सिवा अन्य आविष्कृत वस्तुओं पर प्रदर्शनी व्यवस्थापक कमेटी की ओर से आविष्कारक महाशयों को पुरस्कार पदक तथा प्रशंसापत्र स्वरूप प्रमाणपत्र भी उनकी योग्यतानुसार दिये जायंगे। यह प्रदर्शनी अनेक कारणों से एक विशेष महत्व की होगी। अतएव भारत के चिकित्सक समुदाय को शीघ्रातिशीघ्र अपने आविष्कारों को उक्त प्रदर्शनी में प्रदर्शनार्थ प्रेषित करना चाहिये। तथा प्रत्येक वैद्य, कविराज को अपने २ अनुभूत प्रयोग प्रदर्शन का भी अपूर्व अवसर होगा।

विशेष प्रसन्नता यह है कि उक्त अवसर पर प्रसिद्ध चिकित्सक राजयक्ष्मा के विशेषज्ञ कविराज श्री शाण्डिल्य त्रिवेदी जी द्वारा आविष्कृत आयुर्वेदीय एक्सरे यन्त्र के प्रदर्शन का भी सौभाग्य होगा।

—जे० सी० गुप्ता, रिटायर्ड ई० ए० सी०,
मैनेजिङ्ग डाइरेक्टर।

आयुर्वेद प्रेमी छात्रों को शुभसूचना

श्रीअष्टाङ्ग-आयुर्वेद-विद्यालय, छिन्दवाड़ा, सी० पी० की स्थापना केवल आयुर्वेद प्रचारार्थ ही की गई है, जिसमें वर्तमान में नि० भा० आयुर्वेद विद्यापीठ के पाठ्यक्रमानुसार शिक्षाक्रम होगा और प्रविष्ट छात्रों को निःशुल्क शिक्षा दी जायगी, द्वितीय श्रेणी के छात्रों को निश्चित संख्या में छात्रवृत्ति भी दी जायगी, परीक्षोत्तीर्ण होने पर विद्यालय की ओर से भिषग्रत्न-ए० बी० सी० एम० उपाधि भी दी जायगी। विद्यार्थी दी इण्डिया आयुर्वैदिक फार्मेसी की शाखाओं में आवश्यकतानुसार स्थान भी पा सकेंगे। अतः आयुर्वेद पढ़ने के इच्छुक छात्र शीघ्र प्रार्थनापत्र भेजें। स्थानपूर्ति होने पर पुनः प्रवेश न हो सकेगा।

—जी० सी० गुप्ता, सहायक मन्त्री

आयुर्वेद प्रचारक का राजयक्ष्माङ्क।

शीघ्र प्रकाशित होगा, जिसके सम्पादक कविराज पं० श्री शाण्डिल्य त्रिवेदी जी वैद्यरत्न, आयुर्वेदाचार्य, विशेषज्ञ 'राजयक्ष्मा' महोदय के अतिरिक्त वैद्य समाज के सुपरिचित विद्वान् नि० भा० वैद्य सम्मेलन के सभापति कविराज श्री प्रतापसिंह जी रसायनाचार्य, सुपरिन्टेन्डेन्ट, आयुर्वैदिक फार्मेसी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस, महोदय होंगे। एतदर्थ आपसे भी नम्रनिवेदन है कि आप भी अपना अनुभव तथा खोज पूर्ण लेख आयुर्वेद प्रचारक के उक्त विशेषाङ्क में प्रकाशनार्थ 'राजयक्ष्मा' विषय पर भेजने की कृपा करें। उत्तम लेखकों को पुरस्कार तथा सर्वोत्तम लेख पर पदकादि प्रदान की भी व्यवस्था की गई है। लेखक महोदय मई के अन्ततक अपने लेख चित्रादि सम्पादक के पते पर भेजने की कृपा करें।

—मैनेजर

आयुर्वैदिक छात्रों का विदाई-उत्सव

काशी-हिन्दूविश्वविद्यालय के आयुर्वेद कालेज के नवीन पाठ्यक्रमानुसार प्रविष्ट हुए छात्रों के प्रथम कदम्ब (बैच) की षष्ठवर्षीय अन्तिम परीक्षा ३०-४-३४ को समाप्त हो गयी। इस प्रथम कदम्ब के सम्पूर्ण छात्रों की संख्या ६५ है। इन विद्यार्थियों के कालेज जीवन समाप्त कर लेने के उपलक्ष्य में एनाटोमी के प्रधान प्रोफेसर डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा ने उद्यान-भोज (गार्डेनपार्टी) दिया इस अवसर पर आपके स्नेहमय व्यवहार और विशुद्ध आचरण में ६ वर्षों तक पले हुए छात्रों की विदाई का दृश्य बड़ा ही करुणाजनक और पवित्र था। अन्त में आपने छात्रों को जो अन्तिम उपदेश दिया वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण था। आपने कहा—

"आप लोग भले ही भूखों तड़पें लेकिन अन्याय से धनोपार्जन का विचार कभी भी मन में न लावें, पूज्यपाद महामना मालवीय जी के ध्येय को पूर्ण करने के लिये सतत परिश्रम में संलग्न रहें। देश को आप से अपने जीवन की बड़ी आशा है।

"आशा है आप अपने ज्ञान को प्राचीन चिकित्सकों की भाँति चिता में जलाने के लिये सञ्चित न करेंगे, प्रत्युत दधीचि के समान अपनी हड्डियाँ देकर भी आतुरों का कल्याण करेंगे।

"प्राचीन शल्यशास्त्र का पुनरुज्जीवन करना आप लोगों पर ही निर्भर है, हम, हमारा कालेज, और हिन्दू विश्वविद्यालय आपको इस कार्य में सहायता देने के लिये सदा तत्पर रहेंगे।

—चन्द्रशेखर

बिहार प्रान्तीय-आयुर्वेदोपकारिणी-महासभा, गया।

उक्त सभा का चतुर्थ अधिवेशन गया नगर में ता० १६-४-३४ को बड़े ही समारोह के साथ सम्पन्न हुआ। सभापति थे-मुजफ्फरपुर के प्रसिद्ध वैद्य पण्डित रामदेवजी आयुर्वेदाचार्य, काव्य-सांख्यतीर्थ। स्वागताध्यक्ष असावाँ नरेश थे। एक सौ से अधिक प्रतिनिधि उपस्थित थे। स्वागतमन्त्री पं० राधारमण शास्त्री आयुर्वेदालङ्कार काव्यतीर्थ का स्वागत और सभासञ्चालन प्रबन्ध बहुत ही सुन्दर और प्रशंसनीय था। आपका भाषण और विस्तृत विवरण अगले अङ्क में देखिये।

—जनार्दन जोशी, व्यास

वङ्गप्रान्तीय-वैद्य-सम्मेलन, कलकत्ता।

विगत अङ्क में इसका समाचार प्रकाशित हुआ था। परन्तु कुछ दिनों बाद के समाचारों से मालूम हुआ कि यह सम्मेलन सफल न हो सका, प्रत्युत उसका बुरी तरह विध्वंस होगया। फेकल्टी में इतना मतभेद हुआ कि सभापति आदि सम्मेलन छोड़ कर भाग खड़े हुए। दूसरे दिन सम्मेलन बन्द कर दिया गया और बेचारे प्रतिनिधियों ने सम्मेलनाध्यक्ष और स्वागताध्यक्ष के घरों पर भात खाकर अपनी अपनी राह ली। झगड़ा इस विषय पर प्रारम्भ हुआ कि 'कविराज' शब्द का क्या अर्थ है? वैद्यक से इस शब्द का कोई सम्बन्ध नहीं मालूम होता। मालूम होता है इस सम्मेलन में भी दलबन्दी थी। इसी दलबन्दी ने अभीतक हमें दास बना रक्खा है। आश्चर्य है कि इतने शिक्षित बङ्गीय-कविराजों में भी इसका प्राबल्य है।

—एक दर्शक

जिज्ञासा

१—चरक सूत्रस्थानोक्त अधोगुडा को टीका में वृद्धदारु लिखा है। इसी श्लोक में अन्तःकोटरपुष्पी शब्द आया है। इसका अर्थ नीलबुन्हा लिखा है। बङ्गाली कोषकारों ने वृद्धदारक लिखा है। इनमें अधोगुडा वृद्धदारु का नाम किस प्रमाण से है? क्या किसी निघण्टु या निरुक्त का प्रमाण इसमें है? यदि टीकाकारों प्रामाण्य माना जाय तो नीलबुन्हा आदि की व्याख्या करनी पड़ेगी। नीलबुन्हा किस औषधि का नाम है?

वृद्धदारु, जीर्णदारु और अजान्त्री में क्या भेद हैं? इनका स्पष्ट उत्तर शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा मिलना चाहिये। —श्री भगीरथस्वामी, आयुर्वेदाचार्य

× × × ×

२—वैद्यमहानुभावों से प्रार्थना है कि नीचे लिखे रोग की समुचित व्यवस्था देने की कृपा करें।

इस रोग को युक्तप्रान्त के पूर्वभाग में 'नाड़ा खिसकना' पश्चिम भाग में 'पेट चलना' और पञ्जाब में 'धरन डिगना' कहते हैं।

बहुधा ऊँचे नीचे पैर आजाने या अधिक बोझ उठाने से यह रोग उत्पन्न होता है। रोग उत्पन्न होनेपर पेट में दर्द शुरू हो जाता है। आँव गिरती है और दस्त लग जाते हैं। अपानवायु दुर्गन्धयुक्त हो जाती है। इस रोग में आश्चर्य-जनक एक बात यह है कि कोई भी दर्दनाशक-पाचक या रोधक औषधि देने से रोगी को लाभ नहीं होता।

अभिमत

बालक–

बालक का फरवरी का अङ्क सामने है। इस अङ्क के सब लेख-कविताएँ सुपाठ्य और ज्ञानवर्धक हैं। पण्डित श्रीरामशर्मा का साँप-युद्ध बालक पाठकों को बहुत दिनों याद रहेगा। श्री शिवपूजन सहाय जी ने 'महाभारत कैसे लिखा गया' लिखा है। आगामी अङ्कों में यह कथा प्रवाह जारी रहेगा। अत्यन्त संक्षिप्त, स्पष्ट और सरल भाषा में बालक महाभारत पढ सकेंगे, यह कम लाभ नहीं है।

'ह्वेन सांग की भारतयात्रा' 'देवनागरी लाइनो टाइप, और इसके आविष्कारक 'औरतों का शहर' आदि लेख भी मनोरञ्जक और उपयोगी हैं। 'आमंत्रण' और 'मैं' शीर्षक कविताएँ सुन्दर हैं। अङ्क में भरती की कोई चीज नहीं है।

बालक ने गत ७ वर्षों में जो महत्वपूर्ण कार्य किया है, उसे दोहराने की आवश्यकता नहीं। बाल-साहित्य प्रस्तुत करने में वह बेजोड़ रहा है। गत १५ जनवरी के भयानक भूकम्प से 'बालक' की बहुत हानि हुई है। इतने पर पत्र का निकलना ही आश्चर्य की बात है। साहित्यानुरागियों से बालक की हर तरह की सहायता करने की हमारी प्रार्थना है।

मदारी (होली अङ्क)–

हास्य-रस का हिन्दी में अभाव ही है। अतः उसकी पुष्टि के लिए 'मदारी' को अवतीर्ण देख हर्ष हुआ। पर इस अङ्क में सुन्दर लेखों और मजाकों का अभाव है। 'रामावतार की पुनरावृत्ति' सुन्दर चीज है पर वह भी इस अङ्क में अधूरी है ऐसी चुटकियाँ इनी-गिनी हैं जो पाठकों को गुदगुदा सकें। कुछ तो मजाक न होकर Satire हो गई हैं।

पर इसके लिए सम्पूर्णतया 'मदारी' दोषी नहीं हैं हास्य-रस के लेखक ही कितने हैं? फिर

[पृष्ठ ६५ का शेषांश]

इसका इलाज कुछ नसों को मसलना, पेट की खास ढङ्ग से मालिस करवा एवँ मन्त्रोपचार आदि है इससे शत प्रतिशत लाभ होता है।

अब आप लोग विचार कर बतलावें कि इस रोग का अन्तर्भाव किस रोग में है? इसका शास्त्रीय नाम क्या है? इसका शरीर के किन किन अवयवों से सम्बन्ध है?

साथ ही इसके अनुभूत उपाय भी बतलाने की कृपा करें। उत्तर वनौषधि द्वारा दें। —मदनगोपाल शर्मा

× × × ×

३—ग्रन्थिपर्णा और स्थौणेयक क्या है?

४—अष्टवर्ग कार्यालय देहरादून का अष्टवर्ग कहाँ तक ठीक है? क्या इसकी कोई ठीक पहिचान और चित्र आदि मिलेंगे?

५—भारत की विभिन्न भाषाओं में आयुर्वेद सम्बन्धी कौन २ पत्र निकलते हैं। जिन्हें जिस भाषा के जितने पत्रों का नाम मालूम हो वे वनौषधि द्वारा सूचित करें।

--श्री राजनारायण द्विवेदी

× × × ×

भी कुछ अच्छे और प्रसिद्ध लेखकों के लेख दिए जा सकते थे, जिनका न होना जरा खटकता है।

हाला, प्याला और मधुशाला को यदि कोई नारकीय परनाला समझ ले तो इससे उसकी परिष्कृत बुद्धि का ही पता चलता है।

आशा है धीरे धीरे 'मदारी' अपने उद्देश्य में सफल होगा और उत्तम हास्य-लेखादि प्रस्तुत करेगा।

-बलदेव प्रसाद गौड़

आयुर्वेद-सन्देश-

प्रधान सम्पादक-आयुर्वेदाचार्य पं० सुरेन्द्र मोहन बी० ए०, स० सम्पादक-चन्द्रशेखर शास्त्री और दीनानाथ शास्त्री, 'चातक', प्रकाशक-छात्र समिति, दयानन्द आयुर्वैदिक कालेज, लाहोर। वार्षिक मूल्य २।). एक अङ्क का ।) आने !

यह पत्र उक्त कालेज की छात्र समिति के द्वारा प्रकाशित होता है। सातवें वर्ष की पहिली और दूसरी संख्या हमारे सामने है। भाषा में कुछ पञ्जाबीपन रहने पर भी पत्र बहुत ही सुन्दर, उपादेय और सुसम्पादित है। अभीतक यह द्वैमासिक रूप में निकला करता था, परन्तु यह जान कर बड़ी प्रसन्नता हुई कि अब यह शीघ्र ही मासिक-रूपेण दर्शन दिया करेगा।

पत्र के देखने से मालूम होता है कि दयानन्द आयुर्वेद कालेज के अध्यापकों और छात्रों में जीवन है। हम इस पत्र की हार्दिक कल्याण-कामना करते हैं। यह होनहार पत्र है।

जीवन-सुधा-

सम्पादक-कविराज शशिकान्त मिश्र भिषगाचार्य, प्रकाशक-बृहत् आयुर्वेदीय-औषध-भण्डार, जोहरी बाजार, देहली। वार्षिक मूल्य ३), पुस्तकालयों, धर्मार्थ औषधालयों और छात्रों से २), नमूना बिना मूल्य।

चतुर्थ वर्ष की सप्तम संख्या सामने है पत्र अच्छा है। पाठ्य सामग्री उत्तम है। इसमें यदि कुछ और सामयिक सुधार किये जाँय तो पत्र उत्तम हो सकता है।

बिहार-प्रान्तीय-वैद्यसम्मेलन-पत्रिका-

प्रधान सम्पादक-आयुर्वेदाचार्य पं० विधुभूषण सेन, कविरत्न, काव्य-व्याकरण-तीर्थ, सम्पादक-अनेक विद्वान्. प्रकाशक-श्रीकान्त शर्मा, वैद्यरत्न बिहार-प्रान्तीय-वैद्यसम्मेलन-कार्यालय, पटना। वार्षिक मूल्य १), सदस्यों को निःशुल्क।

यह त्रैमासिक पत्रिका अभी ही प्रकाशित हुई है। प्रथम अङ्क में प्रान्तीय-सम्मेलन के विवरण आदि हैं। दो तीन लेख भी हैं। इसका रङ्ग-ढङ्ग सम्मेलन-पत्रिकाओं के ऐसा ही है। आशा है यह पत्रिका भविष्यत् में उन्नति करेगी। इसके सञ्चालक और सम्पादक धनी, मानी और विद्वान् हैं। हम इसका सहर्ष स्वागत करते हैं।

नोट—स्थानाभाव एवं अनेक असुविधाओं से अनेक सहयोगी पत्रों पर अपना अभिमत और मन्तव्य प्रकाशित नहीं किया जा सका। पाठक क्षमा करें।

—व्यवस्थापक

आयुर्वेद संसार की क्रान्तिकारिणी एक मात्र

सचित्र हिन्दी-मासिक-पत्रिका

वनौषधि

का लेना आपको अत्यावश्यक है ?

इस लिये कि--

१--आयुर्वेद की ऐसी उच्चकोटिकी और उपयोगिनी दूसरी पत्रिका है ही नहीं।

२--यह पत्रिका भरती के लेखों से व्यर्थ पृष्ठ काले न करके आयुर्वेद के सभी अङ्गों पर मर्म पूर्ण और गम्भीर मसाला देती है जो प्रत्येक वैद्य और जनसाधारण तक के लिये परम उपयोगी, ज्ञान-वर्धक एवं मनोरञ्जक होता है ?

३--इसके लेखक भारतवर्ष के चुने हुए अन्वेषक और गम्भीर विद्वान् होते हैं।

४--इसका उद्देश्य सिर्फ आयुर्वैदिक विषयों का प्रतिपादन ही नहीं, आयुर्वेद संसार में नवीन जागृति, नवीन उत्साह और नयी लहर लाने के लिये घोर आन्दोलन मचा कर उसकी धाँधली दूर करने का सफल और क्रियात्मक आन्दोलन करना है।

बड़ी विशेषता यह है कि इसमें

चरक भाष्य

का भी साथ ही प्रकाशन होगा।

यह भाष्य चरक संहिता के भारत प्रसिद्ध विद्वान् और हिन्दू-विश्वविद्यालय आयुर्वेद कालेज के प्रिन्सिपल श्रीमान् धर्मदास जी कविराज एवं अनेक भारत प्रसिद्ध विद्वानों की सम्मति और तत्वावधान में इस भाष्य का सम्पादन किया जा रहा है।

पत्रिका के साथ साथ १ फार्म (८ पेज) चरक भाष्य भी रहेगा। ऐसे अवसर को सम्भवतः कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति नहीं छोड़ सकता।

शीघ्र ही, आज ही एक कार्ड भेज कर आर्डर दीजिये। इसको एक एक प्रति अलभ्य और संग्राह्य है।

क्या अब भी आपको कुछ समझना बाकी है ?

मैनेजर—

चरक-अनुसन्धान-भवन, काशी।

वनौषधि के पाठक अवश्य पढ़ें ।



१—यह अङ्क चिरकाल के वाद पाठकों की सेवा में जा रहा है इसका प्रधान कारण है ग्रीष्मावकाश। मई और जून में प्रचण्डगर्मी के कारण कार्यालय वन्द था। कार्य-कर्तृ-मंडल भी वाहर था अत: जुलाई में इसका कार्य आरम्भ किया गया। आशा है शीघ्र ही हम इसकी क्षतिपूर्त्ति कर सकेंगे।

२—इस युग्माङ्क में पृष्ठ संख्या की कमी शीघ्रता के कारण रह गई है जिसकी पूर्त्ति अगले अंकों में होगी।

३—वनौषधि की पृष्ठ संख्या भी वढ़ा दी गई है। इसके साथ ही चरक का भाष्य भी प्रकाशित किया जायगा। इसी अंङ्क से प्रकाशित करने का निश्चय तो था लेकिन भाष्यकार श्रीमन् धर्म्मदास जी कविराज महोदय का स्वास्थ्य ठीक न था और उनके कनिष्ठ वन्धु भारत प्रसिद्ध कविराज वाचस्पति श्यामादास जी का आकस्मिक स्वर्गवास भी हो गया। अत: अगले अङ्क से इसका प्रवन्ध किया जा सकेगा।

४—इसके साथ ही एक प्राचीन अश्व-चिकित्सा शास्त्र का भी सचित्र परिचय धारावाहिक रूपेण प्रकाशित किया जायगा। यह आयुर्वेद संसार के लिये नई वस्तु होगी।

५—वनौषधि के पाठकों को चाहिये कि वे ऐसी अद्भुत और परम उपयोगिनी पत्रिका की ग्राहक वृद्धि करके इसे प्रोत्साहित करें। यदि इसकी ग्राहक संख्या वढ़े तो हमारी अनेक कठिनाइयाँ दूर हो सकें। इस त्रुटि को दूर करना वैद्यों का प्राधान और उचित कर्तव्य है।

६—अगले अङ्क से चित्रों का भी समुचित प्रवन्ध किया गया है। राजाओं महाराजाओं तथा धनी मानी व्यक्तियों के लिये वनौषधि का राज-संस्करण भी निकलेगा। जो सुन्दर आर्ट पेपर पर छपा हुआ होगा। इसका वार्षिक मूल्य १० होगा।

आशा है वनौषधि के लिये आप स्वयं ग्राहक वनकर अन्य मित्रों को इसकी उपयोगिता वता कर ग्राहक वनाएँगे।

विनीत—

व्यवस्थापक।

लेख-सूची

१—आयुर्वेद और आधुनिक वनस्पति शास्त्र ९८
प्रो० बलवन्त सिंह, एस० एम-सी०
२—भारतीय-आयुर्वेद का ह्रास क्यों हुआ? १०२
आयुर्वेद का एक विद्यार्थी
३—सोम १०७
श्रीयुत वासुदेव जी वैद्यरत्न, काश्मीर
४—मसूरिका और उससे बचने का उपाय १०९
श्रीराधारमण शर्मा, आयु० रत्ना०, साहित्यभू०,का० ती०
५—शङ्खिनी क्या है? ११२
प्रो० भागीरथ स्वामी, आयुर्वेदाचार्य
६—क्षयरोग का संक्षिप्त इतिहास ११६
श्रीयुत डा० विश्वनाथ पाठक, एल० एस० एम० एफ०
७—हरमल ११७
श्रीयुत ख्यालीरामजी द्विवेदी, सं० आरोग्यविज्ञान
८—आकन्द मदार १२०
श्रीयुत राजा शशिशेखरेश्वर देव रायबहादुर
९—वेदों में वनौषधि १२२
श्रीयुत गणेशदत्त शर्मा 'इन्द्र' आगरा
१०—उलट कम्बल १२४
श्रीलक्ष्मीनारायण शर्मा, दाधीच
११—ब्राह्मी १२६
श्रीदेवदत्त शर्मा भारद्वाज
१२—लक्ष्मणा : पुत्रजननी १२८
श्रीयुत दाऊजी दैवज्ञवाचस्पति
१३—पुष्पस्तवक १३०
१४—अनुभूति १३४
१५—मनोरञ्जन १३६
सङ्कलयिता—श्रीयुत शिवपूजन सहाय
१६—मन्तव्य १३७

वनौषधि के नियम-ग्राहकों के लिये

१—वनौषधि प्रति सौर मास के अन्त में प्रकाशित होती है। इसका वार्षिक मूल्य तीन रुपये हैं। केवल आयुर्वेदिक कालेजों एवं पाठशालाओं के छात्रों को अढ़ाई रुपयों में दी जाती है। किन्तु उन्हें अपने अध्यापकों से प्रमाणित करना होगा। नमूने के लिये पांच आने का टिकट भेजना चाहिये।

२—पत्रिका यदि सौर मास के प्रथम सप्ताह में न मिले तो ग्राहकों को कार्यालय में सूचना देनी चाहिये। सूचना देने के समय अपने पोस्टआफिस से जाँच करा लेनी चाहियें।

३—पत्र लिखने के समय ग्राहक संख्या अवश्य लिखनी चाहिये, अन्यथा पत्र का उत्तर न दिया जायगा।

४—मनिआर्डर भेजने के समय कूपन पर अपना पूरा पता स्पष्ट अक्षरों में लिखना चाहिये। वी० पी० का आर्डर समझ बूझ कर देना चाहिये ताकि वी० पी० लौटाने की आवश्यकता न पड़े।

५—नियम तथा विज्ञापन सम्बन्धी पत्रव्यवहार व्यवस्थापक—चरक-अनुसन्धान-भवन, (प्रकाशन विभाग) काशी के पते से करें।

लेखकों के लिये

१—'वनौषधि' के लिये लेख उद्देश्यानुकूल और संक्षिप्त एवं सरल भाषा में होना चाहिये।

२—स्पष्ट अक्षरों में हासिया छोड़ कर दूर दूर लिखना चाहिये। अन्यथा उनके प्रकाशन में असमर्थता होगी।

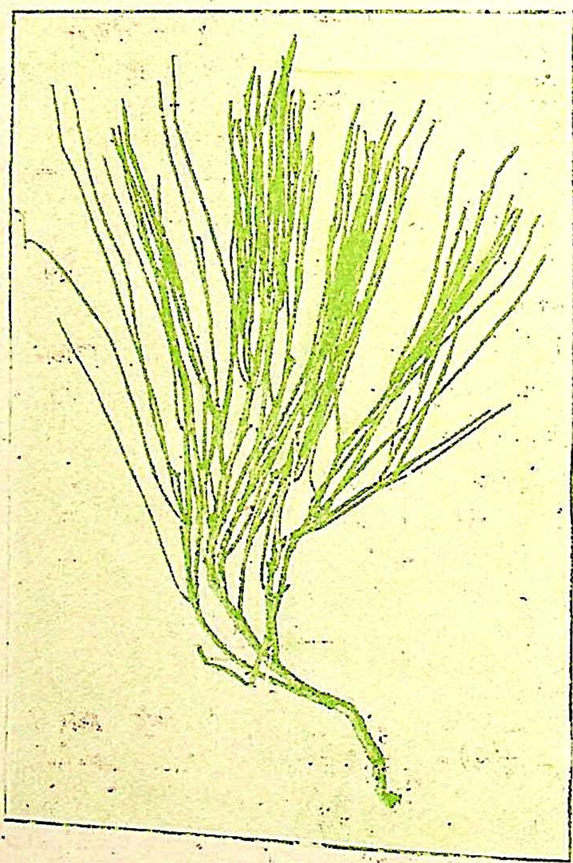
३—सचित्र लेखों के लिये चित्र का प्रबन्ध लेखक को करना होगा। चित्र का व्यय कार्यालय दे सकता है।

४—लेख प्रामाणिक, पूर्ण और संक्षिप्त होने चाहियें। इधर उधर से काटे छाँटे लेखों की ठीक ठीक सूचना देनी चाहिये।

५—लेखों के प्रकाशन या अप्रकाशन, लौटाने न लौटाने, काटने छाँटने, या घटाने बढ़ाने का अधिकार सम्पादक को होगा। पत्र व्यवहार के लिये टिकट आना आवश्यक है।

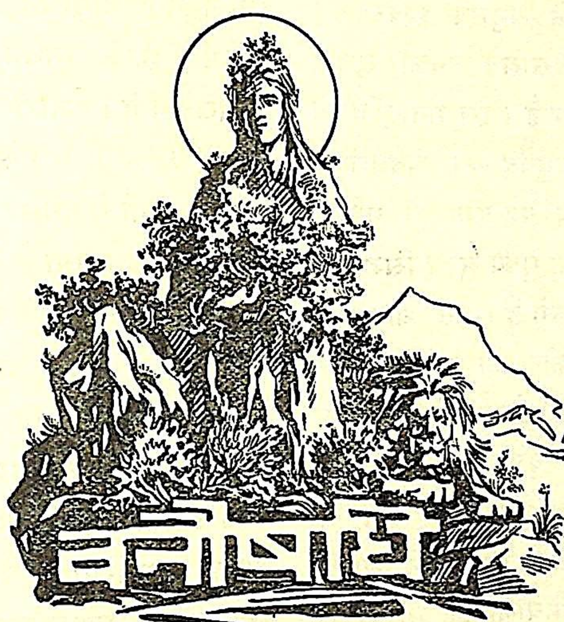
६—समालोचनार्थ पुस्तकें और बदले के पत्र "सम्पादक—वनौषधि, चरक-अनुसन्धान-भवन, काशी" के नाम से आने चाहियें।

सोम



देखिये—

पृष्ठ—१०७



प्रथम वर्ष
चतुर्थ-पञ्चम संख्या

सौर-ज्येष्ठ-आषाढ़ १९९१
मई-जून १९३४

सचित्र मासिक-पत्रिका

आयुर्वेद और आधुनिक वनस्पतिशास्त्र

प्रोफेसर बलवन्तसिंह, एम०एस-सी०

(शेषांश)

यद्यपि ग्रीक, हूण, सिथियन तथा यवनों के आक्रमण के साथ साथ भारतीय चिकित्सा-पद्धति का पतन होता ही गया, तथापि उस समय भी यहाँ का द्रव्य-गुण-शास्त्र बढ़ता ही गया। बौद्धकाल में महात्मा बुद्ध के अहिंसा सिद्धान्त ने शल्यशास्त्र (Surgery) का नाश ही कर दिया था, तो भी उस समय औषधियों पर लोगों का विशेष ध्यान था और उनको सङ्गठित रूप से उत्पादन किया जाता था। इधर, यद्यपि विदेशी राज्य के स्थापित हो जाने से राज की ओर से विदेशी चिकित्सा पद्धति को ही प्रोत्साहन दिया गया और आयुर्वेद का तिरस्कार होता गया, तथापि इस अवनतिकाल में भी हमारा वानस्पतिक द्रव्य-गुण-शास्त्र क्रमशः बढ़ता ही गया। यह सब हुआ, परन्तु क्या इस सम्पन्न द्रव्य-गुण-शास्त्र से आयुर्वेद का कुछ कल्याण हुआ, कदापि नहीं। औषधीय पौधों की सूची लम्बी हो गई, परन्तु हमको अपनी ही प्रसिद्ध औषधियों के पहचानने में कठिनाई होने लगी और उनके विषय में मतभेद प्रगट होने लगे। सब से बड़ी क्षति जो आयुर्वेद को पहुँची, उसका एक मात्र प्रधान कारण आयुर्वेद के प्रति हमारी बदली हुई धारणा थी। हमारे चिकित्सक यह सोचने

लगे कि प्राचीन ऋषियों के अनुभव ईश्वरवाक्य की तरह माननीय हैं और इसलिये उनका सुधार मनुष्य की सामर्थ्य के वाहर है। इस मनोवृत्ति ने हमारे परम वैज्ञानिक आयुर्वेद को अवैज्ञानिक वना दिया और क्रमशः अव यह दशा हो गई है कि पाश्चात्य वैज्ञानिक इसके मुख्य मुख्य सिद्धान्तों को कपोल कल्पित मानने लगे हैं। इस धारणा ने हमारे चिकित्सकों को 'लकीर का फकीर' और आलसी वना दिया। प्रसिद्ध औषधियों के विषय में जो सन्दिग्धता प्रवेश कर चुकी थी, धीरे धीरे जोर पकड़ गई। प्रसिद्ध औषधियों के नाम से व्यर्थ औषधियों को प्रचलित करके हमने अपनी प्राचीन विद्या के प्रति पश्चिमवालों का भी अविश्वास उत्पन्न कर दिया है। पाश्चात्य चिकित्सा-पद्धति आज इतनी आदरणीय हो रही है, इसका मुख्य कारण यही है कि इसने अपनी उन्नति विज्ञान के साथ साथ की है। अन्धविश्वास का इसमें स्थान नहीं है। यदि यही वात आयुर्वेद के साथ होती तो सम्भवतः आज इसीका दव-दवा सारे संसार में होता।

ऐसी पतन की अवस्था में भी अभी तक कितने ही पश्चिमीय विद्वान् इसमें वड़ी श्रद्धा रखते हैं और कहते हैं कि अभी भी उचित रीति से आयुर्वेद के उद्धार की ओर ध्यान दिया जाय तो इसमें से कितने अनमोल रत्न मनुष्य के हाथ लगें। उनका कहना है कि जो कोई साधारण-रीतिरस्म असंख्य पीढ़ियों से मनुष्य समाज में मान्य रहती है उसमें कुछ न कुछ सत्य का अंश होना अनिवार्य होता है और आयुर्वेद तो एक प्राचीन शास्त्र है जो किसी समय सम्पूर्ण सभ्य संसार के सम्मान का पात्र था इसको केवल अवैज्ञानिक कहकर टाल देना वहुत ही अनुचित होगा। डा० ह्यूग एस० कमिंग ने इसके समर्थन में जो उदाहरण दिये हैं, उल्लेखनीय हैं। हजारों वर्षों से चीनवाले टोड-फिश (Toad fish) के सिर का चूर्ण वनाकर हृदय के रोगों में देते रहे हैं और अव यह स्पष्टरूप से प्रमाणित हो गया है कि एड्रेलीन (Adrelin) जो ऐसे रोगों की सवसे अच्छी और अचूक औषधि है उस मछली के सिर में पाया जाता है। इसीतरह का दूसरा उदाहरण भी है। अमेरिका के आदि निवासी शिकार के समय जव कोई जन्तु मारते थे तो उसका यकृत् स्वयं ले लेते थे और शेष गौराङ्ग शिकारियों को देते थे। इसमें अन्य लोग केवल उनकी मूर्खता समझते थे। परन्तु हाल में यह सिद्ध हुआ है कि यकृत् वहुत ही पोषक (Nutritine) होता है और Anameia (पाण्डु) के रोगियों को दिया जाता है।

इसी तरह आयुर्वेद भी, जो कई सौ वर्षों से कठिनाइयों का सामना करते हुये अव भी जीवित है, अवैज्ञानिक कह कर सहज ही नहीं टाला जा सकता। परन्तु हाँ, इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि कुछ समय से आयुर्वेद चिकित्सकों की जो इसके प्रति धारणा हो गई है और जिस तरह वे इसे अपने व्यवहार में ला रहे हैं, वह अवश्य अवैज्ञानिक है। इस वैज्ञानिक युग में इस तरह यह प्रगति नहीं कर सकता।

अव प्रश्न यह उठता है कि आयुर्वेद का उद्धार किस प्रकार सम्भव है? आजकल के कुछ नये ढङ्ग के आयुर्वेद विद्यालयों में आयुर्वेद के साथ साथ विद्यार्थियों को पाश्चात्य चिकित्सा और विज्ञानों की भी शिक्षा दी जा रही है। कुछ लोगों का विचार है कि इस तरह नवीन ढङ्ग से शिक्षा पाकर

जो वैद्य निकलेंगे, उनसे आयुर्वेद के सुधार की आशा की जा सकती है। इससे यह तो नहीं कहा जा सकता कि वे आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्तों को वैज्ञानिक रूप दे सकेंगे और त्रिदोष सिद्धान्त तथा वैज्ञानिक नियमों के वीच स्वरैक्य स्थापित कर सकेंगे, परन्तु इतना अवश्य है कि पाश्चात्य वैज्ञानिक-शिक्षा से उनमें जो वैज्ञानिकता का भाव आवेगा, अवश्य उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन ला देगा। यदि इस प्रश्न को यहीं छोड़कर, हम अपने प्राचीन ढङ्ग के वैद्यों की ओर लौटें तो हमें विश्वास है कि उनसे आयुर्वेद का वहुत कुछ उद्धार हो सकता है, यदि वे ऐसा करना चाहें। परन्तु खेद है कि अभी तक जैसे उनकी इस ओर प्रवृत्ति ही नहीं है। वे यदि अपने अन्धविश्वास और श्रद्धा भाव को रखते हुये, केवल अपनी औषधियों का निर्णय करना ही सोच लें, तो बहुत काम बन जाय। वे यदि पंसारियों को गुरु मानना छोड़ दें और औषधियों का परिचय स्वयं प्राप्त करना प्रारम्भ करदें, तो बहुत उपकार हो सकता है। प्राचीन ग्रन्थों में वतलाये हुये आकृतिक लक्षणों के आधार पर उनका निर्णय करना नितान्त असम्भव प्रतीत होता है। यदि देश भर के वैद्य सङ्ग्रथित होकर पहले प्रचलित औषधियों का संग्रह करें, उनके गुणों की परीक्षा करें और समय समय पर एकत्र होकर अपने परीक्षा फलों पर विचार करें और अन्त में उन्हीं स्थूल आकृतिक लक्षणों की सहायता से एकमत होकर उनका निर्णय करें, तो आशा है कि वे परस्पर के मतभेदों को दूर कर सकेंगे और कितनी ही प्रसिद्ध औषधियों का अन्तिम निर्णय करने में सफल हो सकेंगे। औषधि-निर्णय में कोलभिल आदि जङ्गली जातियों से वहुत सहायता मिल सकती है, क्योंकि वनौषधियों में उनकी वड़ी जानकारी होती है। पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय चिकित्सोपयोगी पौधों के विषय में अभीतक जो कुछ किया है उसमें उन्हें इन जङ्गली जातियों से वहुत सहायता मिली है अन्तिम निर्णय हो जाने पर आधुनिक वनस्पति-शास्त्र की शैली पर उनका वर्णन करा देना आवश्यक होगा जिससे भविष्य में उनको पहचान आसानी से की जा सके।

इतने हो जाने पर वैज्ञानिक क्षेत्र में उन औषधियों का स्वयं आजाना अनिवार्य हो जायगा। रासायनिक विश्लेषण द्वारा औषधियों के सक्रिय पदार्थों (Active principle) का अलग करना रसायन शास्त्र वालों का काम होगा। इससे यह लाभ होगा कि यदि कोई सक्रिय पदार्थ प्रयोगशाला में अन्य विधि (Synthetic method) से आसानी से और कम व्यय में वनाया जा सकता होगा तो वनस्पति के स्थान में उसका प्रयोग अधिक सुगम होगा और संसार भर के लिये वह सुप्राप्य हो जायगा। कुछ वानस्पतिक औषधियाँ ऐसी कटु होती हैं कि उनका प्रयोग वड़ा अप्रिय होता है। रासायनिक विश्लेषण द्वारा यदि मालूम हो जाय कि अप्रिय कटु द्रव्य अक्रिय है तो उसे अलग भी करने का प्रयत्न किया जा सकता है। सक्रिय पदार्थों की परीक्षा जन्तुओं तथा रोगियों पर सुयोग्य डाक्टरों द्वारा की जा सकती है। इस तरह का कार्य कलकत्ता में स्कूल आफ ट्रापिकल मेडिसिन में हो रहा है, परन्तु सुयोग्य वैद्यों का समुचित सहयोग इसमें नहीं है नहीं तो अधिक उन्नति की आशा की जा सकती थी।

अब हमें यह देखना है कि आधुनिक वनस्पति

शास्त्र आयुर्वेद की उन्नति कराने में कहाँतक सहायक हो सकता है। इसके द्वारा औषधीय वनस्पतियों का वैज्ञानिक वर्णन करके भविष्य में उन्हें फिर संदिग्ध श्रेणी में जाने से बचा सकते हैं। इसके अतिरिक्त, औषधियों के गुणों की खोज करने वालों के लिये यह कई प्रकार से सहायक हो सकता है। उनके लिये इसका वर्गीकरण विशेष रूप से लाभदायक होगा। ऊपर बतलाया गया है कि इसमें वर्ग, जाति, उपजाति, आदि विकास के अनुसार एकत्र किये गये हैं जितना ही उनका निकट सम्बन्ध है उतना ही पास पास उनका स्थान है। एक वर्ग अथवा जाति के पौधे केवल आकृतिक समानता नहीं रखते बल्कि उनके रासायनिक सङ्गठन और औषधीय गुणों में भी प्रायः समानता पाई जाती है। जैसे एरण्डवर्ग (Euphorbiaceae) की औषधियाँ, दस्तावर, विषवर्ग (Ranunculaceæ) की कटुपौष्टिक, शामक, शोथघ्न और ज्वरघ्न, निम्बवर्ग (Meliaceae) की ग्राही, पौष्टिक, कृमिघ्न और वान्तिकारक, और भूनिंबवर्ग (Gentianaceae) कटुपौष्टिक तथा ज्वरघ्न होती हैं। इसी प्रकार कण्टकारीवर्ग (Solanaceae) के पौधे प्रायः विषैले होते हैं। जैसे बेलाडोना, खुरासानीयवानी, ताम्रकूट आदि हैं। पौधों में गुणों की समानता प्रायः रासायनिक पदार्थों की समानता पर निर्भर करती है और एक वर्ग या जाति के पौधों में रासायनिक पदार्थों की न्यूनाधिक समानता प्रायः होती ही है। वैज्ञानिक वर्गीकरण से हमें अज्ञात पौधों के गुण का भी कुछ कुछ अनुमान हो सकता है यदि हम किसी वर्ग या जाति के कुछ पौधों में एक विशेष गुण की विद्यमानता देखते हैं तो सम्भव है कि उसके अन्य पौधों में भी वह गुण न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान हो। इस आशा से अन्य पौधों के गुणों की परीक्षा की जा सकती है। इस तरह के कार्य से अनेकों नये पौधों का ज्ञान प्राप्त करके उनमें से उत्तम प्रतिनिधियों की प्राप्ति हो सकती है। आयुर्वेद में एक औषधि के अभाव में दूसरी औषधि-प्रयोग किया जाता है। पाश्चात्य चिकित्सा में भी एक द्रव्य के स्थान में समान गुणवाले दूसरे पदार्थ को प्रयोग में ले लेते हैं जिसे Substitute कहते हैं। आयुर्वेद में प्रतिनिधि स्वरूप जो औषधियाँ काम में लाने के लिये बतलाई गई हैं, असली औषधि से प्रायः बहुत भिन्न होती हैं। किसी एक विशेष गुण की समानता के अतिरिक्त उनमें आकृतिक अथवा विकास सम्बन्धी समानतायें नहीं होतीं। परन्तु डाक्टरी औषधियों के प्रतिनिधि अथवा Substitute प्रायः एक ही जाति के होते हैं। जैसे ब्रिटिश फर्माकोपिया में Acacia arabica, Alol chinensis, Amygdala amaia, Aristo lochia, Serpentaria, Ferula factida, Gentiana lutea, Colchicum antumnale आदि चिकित्सोपयोगी पौधों का प्रयोग बतलाया गया है ये पौधे हमारे देश में नहीं होते, परन्तु इनकी दूसरी दूसरी उपजातियाँ यहाँ होती हैं जिनका प्रतिनिधि स्वरूप प्रयोग किया जा सकता है इनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं :—

Acacia indica, Aloe indica, Amygdala communis, Aristo lochia indica, Farela Narthex, Gentiana kurroo, Colchicum lutia.

वनस्पति शास्त्र के क्रिया विज्ञान (Physiology) परिस्थिति-विज्ञान आदि से भी औषधियों

के विषय की अनेक बातें जानी जा सकती हैं जिनकी सहायता से उपर्युक्त औषधि का हम स्वयं निर्णय कर सकते हैं। आयुर्वेद में औषधि किस समय लेना चाहिये, कैसे स्थान की औषधि ग्रहण करने योग्य होती है, उसका कौनसा भाग लेना चाहिये, आदि जितनी बातें बतलाई गई हैं, सबका अभिप्राय इस शास्त्रकी सहायता से आसानीसे समझा जासकता है। इन्हें जानकर और भी आवश्यक बातों का पता लगाया जा सकता है। संसार की परिस्थिति प्राचीन काल से बहुत बदल गई है, सम्भव है कि हमारी वनौषधियों में भी बहुत परिवर्तन आ गये हों। आधुनिक वनस्पति शास्त्र की सहायता से प्रत्येक वनौषधि का क्रियात्मक वैज्ञानिक अध्ययन उपर्युक्त सभी बातों पर पूर्ण प्रकाश डालेगा और स्थान, संग्रह काल, विधि तथा अयुक्त भाग आदि की दृष्टि से उपयुक्त औषधि की जाँच करने में बहुत ही सहायक होगा।

अतः यह स्पष्ट है कि आयुर्वेद को आधुनिक विज्ञानों के साथ साथ ले चलने में उसका किसी प्रकार अकल्याण नहीं हो सकता। इनकी सहायता से यदि हम आयुर्वेद के गूढ़ सिद्धान्तों के रहस्योद्घाटन में समर्थ हो सकेंगे, तो आयुर्वेद के प्रचार के साथ साथ मानव समाज का बहुत बड़ा कल्याण हो सकेगा। "जहाँ पाश्चात्य चिकित्सा का अन्त होता है, वहाँ से हमारा त्रिदोष सिद्धान्त प्रारम्भ होता है" इस कथन को हम उस समय और र्व के साथ दुहरा सकेंगे। नहीं तो, चाहे इसमें कितनी ही सत्यता क्यों न हो, वैज्ञानिक संसार के आगे इसका कुछ भी मूल्य न होगा और इस वैज्ञानिक युग में आयुर्वेद अपनी रही सही प्रतिष्ठा को भी खो बैठेगा।

भारतीय-आयुर्वेद का ह्रास क्यों हुआ ?

आयुर्वेद का एक विद्यार्थी

भारतीय आयुर्विज्ञान-शास्त्र संसार का सर्व प्रथम और सर्वाङ्ग-पूर्ण विज्ञान है। जिस समय संसार में किसी भी देश या जाति का अस्तित्व न था उस समय से ले कर आज तक यह आर्य-विज्ञानशास्त्र संसार के प्राणियों की प्राण रक्षा का एक मात्र साधन था और है भी। इस लेख द्वारा इसके क्रम-विकाश की ओर इस समय ध्यान न देकर हम इसके क्रमिक-पतन की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक समझते हैं। इसके उत्थान और पतन का सच्चा आलोचन और अनुसन्धान किये बिना इसके उद्धार और सेवा का प्रयत्न सफल नहीं हो सकता।

भगवान् बुद्ध के समय तक आयुर्विज्ञान के आठों अङ्ग पूर्ण हो चुके थे। काय-चिकित्सा की तो बात ही क्या है? शल्य-चिकित्सा की भी पूर्ण समुन्नति हो चुकी थी। इसके प्रमाण में एकमात्र सुश्रुत नामक ग्रन्थ हमारे पास शेष रह गया है। इस चिकित्सा का नाश बौद्ध काल में प्रारम्भ हुआ। अहिन्सा के सिद्धान्त ने शल्य-शास्त्र को आसुरी-चिकित्सा बता कर धीरे धीरे लुप्त प्राय कर डाला।

लगभग इसी समय आचार्य-चरक और दृढ़बल नामक विद्वानों ने काय-चिकित्सा को किसी प्रकार संगृहीत करके अपनी संहिता में सुरक्षित रखा था, अन्यथा इसका भी लोप ही हो जाता। क्योंकि बौद्ध युग के अन्तिम समय में तान्त्रिक-युग का दौर-दौरा था, जिसमें मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र, झाड़, फूँक आदि के प्राधान्य से चरक की काय-चिकित्सा को मानुषी

चिकित्सा कह कर मध्यम श्रेणी में रखा गया।

इस तन्त्रयुग का अन्त रसतन्त्र के रूप में परिणत हो कर प्रचलित हुआ। रस-चिकित्सा का आविष्कार ही ऐसा था, जो भारतीय आयुर्वेद शास्त्र को एक हजार वर्ष के निरन्तर यवन-आक्रमण से सुरक्षित रख सका। यवन काल में यवनों ने यद्यपि आर्य-साहित्य का सर्व नाश करने में कमी नहीं रखी थी फिर भी इस विद्या को वे नष्ट न कर सके। ज्योतिर्विज्ञान और आयुर्विज्ञान ये दो ऐसे विज्ञान हैं जिन्हें नष्ट कर के कोई भी देश या जाति जीवित ही नहीं रह सकती।

परन्तु हमारे परम हितैषी व्यापारी शासकों ने अपने अद्भुत बुद्धिवल से इसका नाश करने की सफल चेष्टा की है। यदि अब हम सतर्क हो कर सच्चे हृदय से इसकी रक्षा करने में असमर्थ हो गये तो यह भारतीय-विज्ञान हमारे हाथों से निकल जायगा।

यह तो सिद्ध वात है कि कोई भी विदेशी शासक जब किसी देश पर शासन करता है तो उसे ऐसा शिथिल और अकर्मण्य बना देता है कि वह फिर कभी उसके हाथ से निकल न सके। इसके साथही साथ यह भी सोचता है कि इसका अस्तित्व मिटा कर इसे ऐसा आत्मसात् कर लें कि फिर कोई झन्झट ही न रहे। इसके लिये उसकी संस्कृति, साहित्य, ज्ञान, विज्ञान, कला-कौशल आदि का नाश करना अत्यावश्यक है। यही सोच कर हमारे शासक हमारे शारीर वल का नाश करके आत्मवल का नाश करने की ओर प्रवृत्त हैं। उनकी इस स्कीम में भारतीय आयुर्विज्ञान-शास्त्र का नाश करना या आत्मसात् कर लेना प्रधान कार्य है। यही कारण है कि भारत में शासन जमाते ही इन्होंने भारतीय चिकित्सा प्रणालीको अवैज्ञानिक, अपूर्ण, आनुमानिक आदि वतला कर अपने डाक्टरों और दवाओं का जाल फैलाया। लेकिन वे हमारे ऐसे मूर्ख न थे, उन्होंने भारतीय आयुर्विज्ञान के महत्व को खूब समझा और उसके तत्त्वों को लेने में इतनी सावधानी और द्रव्य-व्यय किया कि जो हम समझ कर भी नहीं समझ सके और उनके रङ्ग-विरङ्गे और आकर्षक रूप में मुग्ध हो कर हम अपने को भूल गये।

आज भी अमरीका के मेडिसिन बोर्ड के प्रेसिडेन्ट जी० ई० क्लार्क ने लिखा है :—

"यदि आजकल के चिकित्सक प्रचलित रसायन और औषधियाँ छोड़ दें और रोगियों का इलाज चरक के अनुसार करें तो सारे जगत् में शव-वाहकों का कार्य वहुत कम होजाय और जीर्ण एवं निर्वल रोगियों की संख्या भी वहुत घट जाय।"

यही नहीं अमरीका के एक दूसरे डाक्टर ह्वाइट ने लिखा है :—"यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि इस समय संसार में जितनी चिकित्साएँ प्रचलित हैं, सब आयुर्वेद से ही उत्पन्न हुई हैं, आयुर्वेद ही मिश्र के रास्ते यूरोप पहुँचा और वहाँ पहुँचकर एलोपैथी कहलाने लगा।"

एक ओर तो सभ्य संसार यह कहता है दूसरी ओर हमारे शासक कहते हैं कि भारत के लिये एलोपैथी ही उपयुक्त चिकित्सा है आयुर्वेद की उन्नति के लिये पैसा देना व्यर्थ है।

इतना ही नहीं, वह दिन भी समीप ही होगा जब कम से कम सरकारी नौकरों के लिये आयुर्वैदिक चिकित्सा कराना अपराध माना जायगा।

इससे यह सिद्ध है कि पाश्चात्य डाक्टर हमारे आयुर्वेद को अपना गुरू और चिकित्सा प्रणाली को सर्वोत्तम मानकर भी शासक होने के कारण हमें अपनी औषधि के लिये प्रचार द्वारा, प्रलोभन द्वारा, प्रभाव द्वारा अन्त में डण्डों द्वारा बाध्य करेंगे क्योंकि उन्हें आपके प्राणों की रक्षा के लिये क्या नहीं करना है उन्हें तो अपने

व्यापारिक वजट की रक़म को सुरक्षित रखना है कि दवाओं द्वारा भारत से इतना रक्त चूसा गया। अस्तु !

यह तो हुई दूसरों के कारण आयुर्वेद के ह्रास की बात। अब अपनी करतूत पर भी विचार करना आवश्यक है। यद्यपि हमारी त्रुटियों का भी प्रधान कारण विदेशी साम्राज्य ही है। आयुर्वेद शास्त्र की आज्ञानुसार मूर्ख और धूर्त्त वैद्यों को राज्य से निकाल देना चाहिये। लेकिन हमारी सरकार ऐसे ऐसे धूर्तों को और प्रोत्साहन देकर नयी नयी चालबाजियाँ सिखाती है और उनकी ओर उपेक्षा करके समाज में ऐसी धाँधली मचवा देती है कि उसे लोकमत को अपनी तरफ करने में सुविधा हो और इन कमजोरियों से डाक्टरों का प्रभाव बढ़े। फिर भी बहुत अंशों में हमारा ही दोष प्रधान है। यदि हम सच्चे हृदय से देश और समाज की विशुद्ध कल्याण कामना से कार्य करें और गवर्नमेन्ट को बाध्य करें तो आयुर्वेद की बहुत कुछ उन्नति सम्भव हो सकती है।

कुछ सौ वर्ष पहिले तक भारत में आयुर्वेद के साधारण ज्ञान का इतना प्रचार था कि प्रायः लोग छोटी मोटी बिमारियों में साधारण जड़ी बूटियों की चिकित्सा द्वारा महान् लाभ प्राप्त कर लेते थे। चिकित्सकों को समाज में लोग विद्वान् नहीं, वरन् व्यवसायी की दृष्टि से देखते थे। इधर के धर्मशास्त्रों में वैद्यों का स्थान समाज में वैसा उन्नत न समझा जाता था। कहीं कहीं तो यहाँ तक लिखा है कि 'वैद्य-विद्याऽधमाधमा' अर्थात् वैद्य विद्या अधम से अधम है। श्राद्ध आदि पवित्र कृत्यों या माङ्गलिक कृत्यों में वैद्यों को दूर रखा जाता था। पारद आदि धातुओं का शोधन एवं मारण अधर्म समझा जाता था इसलिये वैद्य थोड़े होते थे और जो होते भी थे वे या तो वनौषधियों द्वारा चिकित्सा करते थे या अद्भुत चमत्कारी रस चिकित्सा में पूर्ण प्रवीण होते थे। जनता में रोगों का प्रचार भी कम था। परन्तु इधर विदेशियों के अन्ध-अनुकरण और विलासिता की अधिकता एवं नागरिक जलवायु की अपवित्रता से रोगों की वृद्धि हुई और लोगों में एकमात्र धनोपार्जन की वासना भी प्रबल हो उठी। इसीलिये वैद्यों की वृद्धि होने लगी। उधर डाक्टरों की अधिकता से लोगों को वैद्य बनने की लालसा बढ़ती ही गयी।

आधुनिक आयुर्वेद की अवनति के दो बाहरी और प्रधान कारण बतलाए जा चुके हैं अब कुछ आन्तरिक कारणों पर तुलनात्मक दृष्टिपात करना भी अत्यावश्यक है।

आयुर्वेद के ह्रास का सब से प्रधान कारण वैद्यों की मूर्खता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि सभी वैद्य इस श्रेणी के हैं, परन्तु यह कहने में हमें सङ्कोच भी नहीं है कि अधिकांश वैद्यमानी आयुर्वेदशास्त्र के वास्तविक विद्वान् नहीं है। 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय से यह कहना अनुचित न होगा। जिस संस्कृत भाषा में आयुर्वेद शास्त्र सुरक्षित है उसका अच्छा ज्ञान होना तो प्रत्येक वैद्य के लिये आवश्यक ही है। अंग्रेजी भाषा का पढ़ने लिखने योग्य ज्ञान प्राप्त किए बिना डाक्टर नहीं हो सकता (होमियोपैथी को छोड़ कर) परन्तु हमारे यहाँ महामूर्ख भी अमृतसागर पढ़कर महावैद्य बन जा सकता है और तुर्रा यह कि अन्य विद्वान् वैद्यों को गालियाँ भी देने लगता है। यह सबसे बड़ा आयुर्वेद के नाश का कारण है। चरक ने ऐसे मूर्ख वैद्यों की चिकित्सा के बजाय विष खाना कहीं श्रेयस्कर बतलाया है।

इसके साथ यह भी कहना आवश्यक होता है कि ऐसे वैद्य भी रोगियों पर जो सफलता प्राप्त करते हैं उसका कारण हमारे चिकित्साशास्त्र की पूर्णता है कि उसकी लिखी हुई दवाओं को अन्दाजे से देकर भी सफल हो जाते हैं। अस्तु जो भी हो लेकिन यह बहुत भारी

दोष है। इसका नियन्त्रण राजा का कार्य है, लेकिन हमारे राजा तो चाहते हैं कि ऐसी धाँधली खूब मचे तो हमें विरुद्ध प्रचार का मौका मिले।

हमारे वैद्यों में यह भी एक भारी दोष देखा जाता है कि जिसकी चलने लगती है या जो अपने को कुछ समझने लगता है वह अभिमान प्रदर्शन या आतुर रोगियों को डाँटने फटकारने या तङ्ग करने लगता है। रोगियों को उनके पास जाने में त्रास होता है। इसके ठीक विरुद्ध डाक्टरों के पास जाकर रोगी को कम से कम डाँट फटकार तो नहीं सुननी पड़ती। वे सभ्यतासे पेश आते हैं, लेकिन हमारे वैद्य-प्रमुखों को इसका तनिक भी ध्यान नहीं रहता। यह उनकी असभ्यता कही जा सकती है।

दूसरा दोष अध्ययन का अभाव है। जिस वैद्य को भर पेट खाने की गोटी बैठ जाती है वह फिर अपने को धन्वन्तरि का पितामह मान बैठता है। फिर उसे अध्ययन की चिन्ता नहीं रहती। आयुर्वेद के आठ अङ्गों में एक काय-चिकित्सा का किसी प्रकार थोड़ा वहुत ज्ञान प्राप्त कर लेने पर हमारे वैद्य किस वात का अभिमान करते हैं यह समझ में नहीं आता। इसे हम स्पष्ट शब्दों में अनभिज्ञता या धृष्टता कहें तो कोई भी हानि न होगी। इन्हीं कारणों से शल्य, शालाक्य आदि अङ्गों का नाश हो गया और इन बुरी आदतों से इस बची खुची काय-चिकित्सा का भी निकट भविष्य में नाश हो जायगा।

दूसरा एक कारण इसीके साथ और भी है। जैसे व्यापार की दृष्टि से ऐरे गैरे वैद्य बन कर जनता को लूटने चलते हैं वैसे ही इन्हें लूटने के लिए इनके भी गुरू घण्टालों ने दूकानें खोल दी हैं, वे हैं उपाधियाँ वेचनेवाले! अपढ़ लोगों को वैद्य-व्यवसाय करने के लिये अपना रङ्ग जमाने और नाम के साथ दो चार लम्बी लम्बी उपाधियाँ लगाने की आवश्यकता पड़ती है, उनके लिए अनेक उपाधि-व्यवसायी भी पैदा होगये हैं। बड़े बड़े प्राचीन विद्वान् वेचारे मुँह ताकते ही रह जाते हैं और अनेक नये नये लोग सात हाथ के लम्बे उपाधियों के पुछल्ले लगा कर घूमते हैं। इनकी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिये अनेक तरह की परीक्षाएँ, सभाएँ और संस्थाएँ खुली हैं जो ऐसे लोगों को फाँसकर कुछ रुपये ऐंठ लेते हैं और उनकी अभीष्ट उपाधियाँ दे डालते हैं। मैं यहाँ उन संस्थाओं का नाम न लिख कर इतना ही कह देता हूँ कि यह व्यवसाय बड़ी बड़ी प्रामाणिक प्रसिद्ध संस्थाओं में भी चलता है। परीक्षक अपने लग्गू-बभ्भू सिफारशी लोगों को प्रश्न पत्र देकर या नयी नयी कापियाँ लिखाकर पास करा देते हैं। इसका नियन्त्रण भी शासकों की ओर से ही किया जा सकता है जो बिना तीव्र आन्दोलन के असम्भव सा है। यह व्यवसाय भी आयुर्वेद के ह्रास का एक कारण है।

तीसरे, पढ़े लिखे विद्वान् वैद्य पुस्तकों के पण्डित होकर भी अपनी प्रतिभा से उन विषयों की गवेषणा में दत्तचित्त नहीं होते। वे अपनी पुस्तक-विद्वत्ता के घमण्ड में अनन्तानन्त रहस्यपूर्ण आयुर्विज्ञान के जटिल और गहन रहस्यों पर आलोचना आदि न करके कूप मण्डूक की भाँति सङ्कुचित क्षेत्र में ही रह जाते हैं। विद्वत्ता के साथ साथ औषध-निर्माण-नैपुण्य और तत्तत् रोगों या रोग सङ्करों-पर कल्पना करना एक अलग ही वस्तु है। इस अंश की कचाई उन वैद्यों की पूर्णता में बाधक होकर आयुर्वेद की उन्नति में सहायक नहीं होती। सभा, संस्था, पत्र, क्लब, सम्मेलन, इन्स्टिट्यूट आदि अनेक ऐसे साधन हैं जिनसे ज्ञानकी वृद्धि होती है डाक्टरों के लिये ऐसे अनेक साधन प्रस्तुत हैं और वे इनका सदुपयोग करते हैं। लेकिन हमारे कुछ पढ़े लिखे वैद्य अपने

को सर्वज्ञभट्टाचार्य समझकर इन ज्ञानवृद्धि के सामयिक और सरल साधनों से लाभ नहीं उठाते। प्रत्युत ऐसे कार्यों का विरोध करते हैं। यही कारण है कि भारत में ऐसी प्रबल आयुर्वेद-संस्था का अभाव है और उसीके अभाव से अनेक दोष बढ़ते जारहे हैं।

यद्यपि भारतवर्षीय-वैद्य सम्मेलन या महामण्डल आदि संस्थाएँ हैं जो कुछ लोगों के विज्ञापन और स्वार्थ का साधनमात्र हैं। साल में एक बार कुछ लोग एकत्रित होकर रश्म अदा कर देते हैं लेकिन उससे कोई ठोस काम होता अभीतक तो नहीं देखा गया।

इस कारण आयुर्वेद में नए और सामयिक आविष्कारों की भारी कमी भी इसके ह्रास का प्रधान कारण समझी जा सकती है।

चौथे, आयुर्वैदिक औषधियों में आकर्षण और लोकोपयुक्त सुविधाओं का महान् अभाव है। इसी कारण प्रतिशत ६० मनुष्य इस चिकित्साप्रणाली से हिचकते हैं। जैसे—कुछ अतिकटु औषधियों का प्रयोग! अधिकांश जनता ऐसी औषधियाँ खाना नहीं चाहती। इसी तरह वैद्यगण ऐसे अनुपान बतला देते हैं जो नागरिक जनता के लिए सर्वथा दुर्लभ हैं। जैसे कण्टकारी स्वरस, अडूसे की पत्ती और किसी वृक्ष की छाल! रातदिन पेट के धन्धे में व्याप्त या विलासिता में चूर भारतीय जनता नगरों में ऐसी चीजें प्राप्त नहीं कर सकती इसलिए वे इस चिकित्सा से पाश्चात्य चिकित्सा को अधिक सुविधाजनक और उपयुक्त समझते हैं। प्रायः डाक्टरों से लाचार होकर लोग वैद्यों के पास आते हैं और उनकी शर्तों को मानने के लिये बाध्य होते हैं इसीप्रकार साधारण कामकाजी लोगों को काढ़ा बनाना भी जरा असुविधाजनक होता है। यह भी आयुर्वेद के ह्रास का एक खास कारण है।

पाँचवें, दवाओं की शक्ति हीनता। मेरा यह तात्पर्य नहीं है कि वैद्यों को दवा सफल नहीं होती। वरन् यह कि आयुर्वैदिक औषधियों में जैसा चमत्कार होना चाहिये वैसा नहीं दीखता। इसका कारण वैद्यों के द्रव्य-स्वरूप-परिचय का अभाव है। वैद्यों को न तो काष्ठौषधियों का ही पूर्ण परिचय होता है और न खनिजों का ही। बाजार से पुड़िया बँध कर जो सामान आता है उसे देखना और समझना तो दूर रहा उसकी स्वच्छता भी नहीं की जाती। ऐसे सड़े गले और निर्वीर्य उपादानों से सिद्ध औषधियाँ कहाँतक जादू का असर दिखला सकती हैं। इसी प्रकार रस-चिकित्सा में पारद का शोधन, मारण भी सभी के लिये असम्भव और नहीं तो कठिनतर अवश्य होता है। ऐसी स्थिति में पाश्चात्य औषधियों की विजय होती है। क्योंकि उनका निर्माण यदि विशुद्ध न हो तो वे सरकार द्वारा दण्डित की जा सकती हैं और दूसरे निर्माण कार्य करनेवाले भी स्वतन्त्र हैं। हमारे यहाँ तो एक ही व्यक्ति को सभी काम करने पड़ते हैं जिससे एक भी काम पूर्ण नहीं हो पाता। यही कारण है कि एलोपैथिक औषधियाँ सुविधा के साथ खाई जातीं और तुरन्त लाभ पहुँचाती हैं और उनके सामने आयुर्वैदिक औषधियाँ पीछे रह जाती हैं। यह भी एक प्रधान कारण है कि जनता डाक्टरों की ओर झुकी जा रही है और वैद्य-समाज इन बातों को न सोचकर स्वार्थान्ध होता जा रहा है जिसका परिणाम यह होगा कि भारत से इस स्वाभाविक, शुद्ध-पवित्र और चमत्कारी आर्य-चिकित्सा का ह्रास होते होते अन्तमें केवल नाम शेष रह जायगा।

इसी प्रकार अन्यान्य अनेक छोटे-मोटे कारण और भी हैं जिन्हें हम लेख बढ़ने के भय से यहाँ उद्धृत करना व्यर्थ समझते हैं।

सोम

श्रायुत वासुदेवजी वैद्यरत्न, काश्मीर

सोम एक अत्यन्त प्रसिद्ध वैदिक महौषधि है। प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित इसकी गुण-गाथाओं से वैद्य समुदाय पूर्ण परिचित है, किन्तु खेद है कि वह पञ्चदशपर्ण सोम अलभ्य है। इस लेख के लेखक काश्मीर के तथा उससे सम्बद्ध हिमालय के सुदूरवर्ती स्थानों में होने वाली वनौषधियों के परिश्रमशील अन्वेषक ही नहीं; अपितु उनके प्रयोगों और परिणामों से पूर्ण परिचित वैद्य रत्नों में से एक हैं। आपने निम्नलिखित पंक्तियों में जिस सोम का परिचय दिया है, वास्तव में वह एक अत्युत्कृष्ट महौषधि है, उसका मनन करना, और उससे लाभ उठाना हमारा कर्त्तव्य है। इसका नमूना चरक-अनुसन्धान-भवन से मिल सकता है —सम्पादक।



श्रीमान् आचार्य्य श्रीयादवजी त्रिकम जी ने अपने एक पत्रमें इच्छा प्रकट की है कि मैं काश्मीर में उत्पन्न होने वाली वनौषधियों के विषय में वैद्यक-मासिक पत्रों में लेख लिखूँ यद्यपि मुझे इतना अवकाश नहीं मिलता कि मैं लम्बे चौड़े लेख लिख सकूँ परन्तु आचार्य्य जी की आज्ञा का पालन करना भी मेरे लिये अत्यावश्यक है इस लिये उन वनौषधियों के विषय में मुझे जितना ज्ञान और अनुभव है उसे इस विषय की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका "वनौषधि" द्वारा प्रकट करता रहूँगा और आज पहला लेख "सोम" सेवा में भेज रहा हूँ।

नाम—(तिब्बत) सोम, (काश्मीर) सोमा, असमानो बूटी, (ईरान) हुम, होम, (लैटिन) Ephedra Vulgaris, ऐफेड्रा वल्गेरिस।

उत्पत्तिस्थान—तिब्बत, काश्मीर, ईरान, अफ़गानस्थान, सिक्कम, हिमालय इत्यादि में ६००० से १०००० फुट की ऊँचाई पर

संग्रहकाल—यह वर्षा ऋतु में उत्पन्न होती है और अक्टूबर मास में इसका संग्रह किया जाता है।

वर्णन—इसका गुच्छाकार १ से १॥ फुट तक ऊँचा क्षुप होता है और इसकी शाखायें बहुधा जड़ से ही निकलती हैं जो १।१६ से १।८ इञ्च तक मोटी होती हैं और शाखाओं पर थोड़े २ फासले पर गाँठ युक्त कुछ लाल रङ्ग के जोड़ होते हैं। डा० वामनगणेश देसाई ने अपनी पुस्तक 'औषधि संग्रह' में लिखा है कि मञ्जरी के रूप में इस पर पुष्प आते हैं और रस से भरे हुये लाल रङ्ग के फल भी लगते हैं किन्तु मुझे अभी तक इसके फूल और फल देखनेका अवसर प्राप्त नहीं हुआ। इससे विचित्र सुगन्ध आया करती है।

गुण—रसायन, दीपन, मूत्रल, आनुलोमिक, आमवात नाशक, ज्वरघ्न, यकृतोत्तेजक, श्वासावरोधनाशक और इसका ताजा रस नेत्रों में डालने से एट्रोपीन की तरह नेत्र की कनीनिका को फैला देता है।

मात्रा—चूर्ण ४से८रत्ती तक, क्वाथ २॥तोले तक।

क्वाथ बनाने की विधि:—१ तोला सोम के पञ्चाङ्ग को १ सेर जल में मन्दाग्नि पर पकाया जाये जब आधा शेष रह जाय तो छान कर बोतल

में भर कर रख लिया जाय और दिन में ३ वार २॥, २॥ तोला पिलाया जाय।

प्रयोग—श्वासरोग चूर्ण की १ मात्रा प्रातःकाल १ रात्रि को सोते समय जल अथवा मधु के साथ देने से अत्यन्त लाभ होता है और दौरे के समय देने से दौरा भी रुक जाता है।

श्रीमान् कविराज डा० गणनाथ जी सेन ने अपने एक पत्र में मुझे लिखा था कि श्वासरोग में इसका चूर्ण १ आ० से २ आ० तक की मात्रामें देने से सद्यः लाभ होता है परन्तु नित्य सेवन कराना उचित नहीं; क्योंकि इससे कुछ उष्णता प्रतीत होती है। सम्भव है कि १॥ माशा की मात्रा से किसी रोगी को गर्मी मालूम हुई हो किन्तु मुझे किसी रोगी ने ऐसा नहीं कहा क्योंकि मैं ६ रत्ती से अधिक मात्रा किसी को नहीं देता।

आमवात—माँस पेशीय व धमनीय-आमवात में इसका क्वाथ उन रोगियों को भी लाभ पहुँचाता है जिनको सोडा सैली सिलास, एन्टीपाइरीन, सैलोल इत्यादि अवसादक औषधियों से लाभ नहीं होता परन्तु इसे रोग की तरुणावस्था में ही, जब ज्वर भी साथ हो-प्रयोग करना चाहिये, क्योंकि जीर्ण आमवात में इससे विशेष लाभ नहीं होता नूतनावस्था में १०-१२ दिन के प्रयोग से ही ज्वर शोथ और वेदना का ह्रास हो कर रोग शांत हो जाता है।

मन्दाग्नि—इसके चूर्ण अथवा क्वाथ से उस मन्दाग्नि में विशेष लाभ होता है जिसका कारण यकृत् विकार हो। इससे पित्त-स्राव अधिक होनेसे पाचन शक्ति भी बढ़ जाती है और कोष्ठ-वद्धता भी दूर हो जाती है। डा० देसाई ने इसे कामला व यकृत् वृद्धि के लिये भी लाभकारी लिखा है। परन्तु मैंने अभी तक इस विषय में इसका अनुभव नहीं किया। तिब्वत के लामा (बौद्ध योगी) वेदों में वर्णित सोम की तरह ही इसका प्रयोग करते हैं और इसको रसायन मानते हैं।

इसके अतिरिक्त गत वर्ष हरिद्वार से महाशय देवेन्द्रनाथ बी० ए० सोम का ताज़ा स्वरस सेवन करने के विचार से मेरे पास आये थे। अस्तु, मैंने उनको यहां से ८० मील दूर इसके उत्पत्तिस्थान पर भेज दिया था, परन्तु शीत अधिक होने के कारण वह वहां न ठहर सके और कुछ हरे क्षुप लेकर यहां लौट आये और यहां आ कर वह कुछ काल घोट कर सेवन करते रहे और सेवन काल में वह बताते थे कि शरीर में एक प्रकार का आनन्द और उत्साह प्रतीत होता है और काम करने से थकान मालूम नहीं होती। इसके अतिरिक्त वह कई वर्ष से दिन रात में १ वार भोजन करते थे, क्योंकि दोनों समय भोजन करने से उनको पाचन क्रिया विगड़ जाती थी, परन्तु जब से उन्होंने सोम का प्रयोग किया है तब से वह दोनों समय भोजन करते हैं और अब उनको किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता।

मसूरिका और उससे बचने के उपाय

श्री राधारमण शर्मा, आयुर्वेदरत्नाकर,
साहित्यभूषण, काव्यतीर्थ

मसूरिका एक बीज विशिष्ट भयङ्कर और संक्रामक रोग है। मनुष्यों के शरीर में जब तक इस रोग का बीज वर्तमान रहता है, इसके होने का भय रहता है, और बीज अथच बीज की शक्ति प्रादुर्भाव द्वारा नष्ट हो जाने पर इसके पुनः प्रादुर्भाव की शङ्का नष्ट हो जाती है। इसकी संक्रामकता बड़ी भयङ्कर होती है। शायद ही संसार का कोई रोग संक्रमण-शीलता में इससे लोहा लेने का साहस कर सके। अभी गतवर्ष विशेषतः विहार और युक्त प्रान्त में इसका भयङ्कर प्रकोप हुआ था, जिसमें लगभग २५ हजार मनुष्यों का, जिनमें बच्चों की संख्या ही अधिक है, असामयिक करुण-देहावसान हुआ था। जिस घर, ग्राम, वा नगर में इसका प्रवेश होता है, वहां वालों को इससे पिण्ड छुड़ाना दुष्कर हो जाता है। कभी कभी और कहीं कहीं तो यह महामारी और प्लेग से भी कहीं अधिक हाहाकारमयी विभीषिका फैला देता है, जैसा कि गत वर्ष इसने किया था।

सब से बुरी बात तो इस रोग में यह है कि इसके शिकार भारत के भावी सर्वस्व, मानवोद्यान की कोमल कलियां, छोटे छोटे बच्चे ही अधिक होते हैं। बच्चे ही इसके चंगुल में अधिक फँसते हैं। एक बात और है, अन्य रोगों से आक्रान्त हो कर जब कोई अच्छा हो जाता है, तो उस बीमारी का कोई चिह्न उसके शरीर पर नहीं रहता। पर इस रोग से आक्रान्त होकर अच्छे होने पर भी इसके असुन्दर दाग, समस्त शरीर पर सदा के लिए, मृत्यु पर्यन्त रह जाते हैं। अतः इस भयङ्कर रोग और उसके चिरस्थायी बदसूरत दागों से बचने के उपाय को जानना प्रत्येक मनुष्य का अत्यावश्यक कर्त्तव्य है।

ग्राम्यभाषा में यह रोग चेचक, गोटी, वसन्त, शीतला, माता आदि नामों से विख्यात है। एवं आयुर्वेदीय ग्रन्थों में इस रोग के नाम 'मसूरिका' तथा 'पाप-रोग' हैं। मालूम होता है मसूर के दाल के आकार और रङ्ग की गोटियों के निकलने के कारण ही इसका नाम मसूरिका पड़ा। लिखा भी है:—"मसूराकृति संस्थानाः पिड़कास्ताः मसूरिकाः।" पर पापरोग इसका नाम क्यों पड़ा यह ठीक कहा नहीं जा सकता। पाप करने से यह रोग होता है, जैसा कि मेरे एक मित्र का ख्याल था, अतः इसका नाम पाप-रोग पड़ा, यह तो सोचना ही बुद्धि-हीनता है।

उन उपायों को लिखने के पूर्व एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात लिख देना आवश्यक है। लोग इस रोग में चिकित्सा नहीं कराते। हालत खराब हो जाये, अवस्था मरणासन्न हो, तो भी नहीं। इस रोग में इलाज कराना धर्म-विरुद्ध समझते हैं। हमारे बिहार और यू० पी० में यही परिपाटी है। जहां तक मुझे मालूम है, अन्य प्रान्तों में भी यही चाल है। कुछ लोग जब देखते हैं कि अब चेचक (मसूरिका) से बचने को कोई आशा नहीं रही तो व्यर्थ इलाज करवाते हैं। कुछ लोग प्रारम्भ में, जब तक गोटियां नहीं निकलती, चिकित्सा कराते हैं। पर गोटियों के निकलते ही ज्वरादि रहने पर भी चिकित्सा एकदम बन्द कर देते हैं। लोगों की धारणा है कि यह रोग श्रीशीतला देवी के प्रसाद

से होता है। उनकी प्रसन्नता से रोगी जीता, और उनकी अप्रसन्नतासे मर जाता है। अतः चिकित्सा आदि सब छोड़ छाड़ कर केवल श्रीशीतला देवी की पूजा आराधना करनी चाहिए। पर यह नितान्त भ्रम-पूर्ण विचार है। किसी भी धर्म-ग्रन्थ में कहीं भी यह नहीं लिखा है कि इस रोग में चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। आयुर्वेद के प्रायः सभी ग्रन्थों में इसकी स-निदान चिकित्सा लिखी है। आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थ धर्म-प्राण ऋषियों के लिखे हैं। वे धर्म विरुद्ध इसकी चिकित्सा कभी नहीं लिखते और यदि ज्ञानार्थ इसके लक्षण निदान लिखते भी तो उसके नीचे एक टिप्पणी जोड़ देते कि इस रोग में पूजा-पाठ छोड़ कर चिकित्सा नहीं करानी चाहिए। पर ऐसा न होना ही साफ बतलाता है कि इस रोग में चिकित्सा करानी चाहिए, और पहले इसकी चिकित्सा होती थी।

इस रोग में अशिक्षित मनुष्य, बल्कि शिक्षितों में भी अधिकांश, एक और भी अत्यन्त भयावह एवं घातक मूर्खता करते हैं। वे मसूरिका के रोगी को भली-भाँति ज्वरादि उपद्रव रहने पर भी जो कुछ पूड़ी, मिठाई, भात, दाल, फल आदि खाने को वह माँगे, यह समझ कर कि यह शीतलाग्रस्त है, और जिस तरह मृतात्मवाद के अनुयायियों पर मृतात्मायें आती हैं और वार्तालाप आदि करती हैं, उसी प्रकार इसपर शीतला देवी आयी हुई हैं, और वही यह सब खाने को माँग रही हैं, सब कुछ खाने को दे देते हैं। यह भयानक भूल है। यह 'ग्रह-गृहीत पुनि वात-वश तापर बीछीमार' होता है। मसूरिका में ज्वरादि उपद्रव रहते ऐसी चीजें मिली नहीं कि सन्निपात हुआ और प्राण निकले। अतः लोगों को यह भ्रम शीघ्र दूर करना चाहिए। और इस रोग में भी अन्य रोगोंकी भाँति चिकित्सा अवश्य करानी चाहिए! यदि ज्वर कासआदि कोई उपद्रव न हो, तबीयत ठीक हो तो इलाज की कोई जरूरत नहीं। लेकिन अगर बात ऐसी न हो तब तो चिकित्सा करनी ही चाहिये साथ साथ पथ्य भी पूरा रखा जाये। हाँ, पथ्य और चिकित्सा के साथ यदि शीतला देवी की आराधना की जाये, तो कोई हर्ज नहीं, बल्कि अच्छा ही हो।

इस रोग से शीतला देवी का क्या सम्बन्ध है, और मैं शीतला देवी की पूजा आराधना करने की भी सम्मति क्यों दे रहा हूं इस सम्बन्ध में यहां दो शब्दों में कुछ बता देना अप्रासङ्गिक न होगा। जिस तरह प्रत्येक रस के एक अधिष्ठाता देवता होते हैं, शृङ्गार के विष्णु, रौद्र के रुद्र, वीर के इन्द्र, हास्य के प्रमथ इत्यादि, उसी प्रकार प्रायः प्रत्येक रोग के भी एक अधिष्ठाता देवता होते हैं। जैसे ज्वर के शिव, विशूचिका की भगवती, कुष्ठ के सूर्य, मसूरिका की शीतला इत्यादि। आयुर्वेद में ज्वर 'दक्षापमानसंक्रुद्धरुद्रनिःश्वाससम्भव' बतलाया गया है। और एतदर्थ ही ज्वर में चिकित्सा के साथ साथ शिवाराधन की भी सम्मति प्रदान की गयी है। बस इसी तरह मसूरिका रोग की अधिष्ठाता शीतला जी के होने के कारण उनकी पूजा की सलाह दी गयी है। जो अनुचित नहीं है।

आयुर्वेद के प्रायः सभी ग्रन्थों में इस रोग के रोधक (Preventive) और होने पर इससे मुक्ति दिलाने वाली औषधियाँ पर्याप्त मात्रा में लिखी गयी हैं। उनमें से कुछ खास खास, हजारों

वार अव्यर्थता पूर्वक अनुभूत प्रयोग नीचे दिये जा रहे हैं—

(१) पीली कौड़ी आठ आने भर और काली मरीच चार आने भर दोनों को ठण्ढे पानी में पीस कर पांच दिन प्रातः काल पीना चाहिए। इससे चेचक के आक्रमण का डर नहीं रहता।

(२) ऊँट कटीरा की जड़ (इसे संस्कृत में उष्ट्रकण्टक, और गुजराती में उत्कण्टो तथा शूलियो कहते हैं) चार आना भर और अनन्त-मूल चार आना भर इन दोनों को ठण्ढे पानी में पीस कर पीने से मसूरिका का आक्रमण नहीं होता, और यदि कदाचित् हो भी तो उससे कुछ कष्ट नहीं होता।

(३) इमली की छाल चार आना भर, और हल्दी चार आना भर, दोनों को ठण्ढे पानी में पीस कर प्रातः काल १ सप्ताह पीने से मसूरिका के आक्रमण का डर नहीं रहता।

(४) कण्टकारी रेंगनी (विहार) कटेरी (यू० पी०) चार आना भर, गोल मरीच दो आना भर दोनों को ठण्ढे पानी में पीस कर, प्रातः काल सप्ताह में दो वार, १ महोने तक पीने से इस रोग का आक्रमण नहीं होता।

(५) नीम की पत्ती दो आना भर हल्दी दो आना भर, काली मरीच दो आना भर और रुद्राक्ष चार आना भर, इनको ठण्ढे पानी में पीस कर तीन दिन (एक एक दिन बीच दे कर) पीने से चेचक का आक्रमण हो ही नहीं सकता। यह सर्व-श्रेष्ठ रोधक दवा है। इसकी हजारों वार परीक्षा हुई है। इसमें रुद्राक्ष असली होना चाहिये। गत-वर्ष, मसूरिका के भीषण प्रकोप के समय, "अमृत वाजार पत्रिका" के किसी अङ्क में कलकत्ते के एक सुप्रसिद्ध कविराज ने भी इस एक प्रयोग को लिखते हुए लिखा था कि 'इसे एक दिन मात्र पीने से वर्ष भर तक मसूरिका का कुछ भी डर नहीं रहता।' पर मेरी सम्मति से यह तीन दिन पीना चाहिए। आयुर्वेदीय ग्रन्थों में भी इसे तीन दिन ही पीने का आदेश है। यह प्रयोग टीका लेने से भी कई गुणा अच्छा है।

(६) सेमल के ५, ६, वीजों को (जो रूई के साथ होता है) ठण्ढे पानी में पीस कर चीनी या मिश्री के साथ पीने से मसूरिका का आक्रमण नहीं होता।

(७) सुषुवी के पत्रों को हल्दी के साथ पीस कर पीने से इस रोग के होने का भय नहीं रहता।

ये आयुर्वेद के कुछ चुने हुए बहुशोऽनुभूत अव्यर्थ योग हैं। इनमें भी पहला, पाँचवाँ, और छठा तो अतीव उत्तम है। प्रत्येक मनुष्य विशेषतः वालकोंको आत्मरक्षार्थ इनका प्रयोग अवश्य करना चाहिये। प्रयोग भी कोई कठिन नहीं है। यदि मिट्टी के किसी नये साफ वर्तन में जल खुली छत पर रात भर रख दिया जाये, और प्रातः काल उसी से ये दवाइयाँ पीसी जायें तो वहुत अच्छा हो। चक्रदत्त, आयुर्वेद-विज्ञान आदि कुछ आयु-र्वेदीय ग्रन्थों में एक और रोधक प्रयोग पाया जाता है—

"नारीणां वामपार्श्वस्थं नराणामपसव्यगम्।
पापरोगभयं दूरात् शिवास्थि विनिवारयेत्॥"

अर्थात्—स्त्रियों के वाम भाग में एवं पुरुषों के दक्षिण भाग में हरड़ (हरीतकी) का बीज धारण करने से मसूरिका के आक्रमण का भय नहीं होता। इसकी भी परीक्षा होनी चाहिए। किन्तु इस प्रयोग के सम्बन्ध में कुछ मत वैषम्य

है। शिवास्थि का अर्थ कुछ लोग हरीतकी न कर शियार की हड्डी करते हैं।

जहाँ चेचक रोग फैला हो वहाँ के रहने वालों को खाने, पीने, रहने, सोने, पहनने आदि की सफाई पर पूर्ण ध्यान देना चाहिये। और नित्य-घर में खास कर सोने के कमरों में सन्ध्या समय धूप जलाना चाहिए। धूप में ये चीजें होनी चाहिए नीम की सूखी पत्ती, धूप, धूना, और गुग्गुलु। नीम में मसूरिका की संक्रामकता को रोकने की बड़ी शक्ति है, अतः उसकी टहनी मसूरिका के रोगी के पास रखी जाती है।

एलोपैथिक चिकित्सा में टीका (Vaccination) लेने के सिवा और कोई उत्तम रोधक दवा नहीं है। जिसे कभी यह रोग नहीं हुआ है उसके शरीर में इस रोग के बीज प्रविष्ट कर उसके शरीरस्थ इस रोग के अन्य बीजों को शक्तिहीन कर देना ही इस टीका का कार्य है। टीका लेना भी अच्छा होता है। पर मेरी तो एकान्त सम्मति है कि उपर्युक्त आयुर्वैदिक योगों में से ही किसी एक का प्रयोग किया जाये। क्योंकि उनकी लाभ-कारिता से विदेशी दवाइयाँ आज भी मुकाबला नहीं कर सकतीं। इस रोग से मुक्त होने पर भी कुछ दिनों तक रक्तशुद्धि (Purification of blood) के लिए कुछ दिनों तक किसी औषध का सेवन कर लेना चाहिए।

आशा है, लोग इन प्रयोगों का प्रचार कर अपना और जनता का उपकार करेंगे।

शंखिनी क्या है ?

प्रोफेसर—भगीरथ स्वामी, आयुर्वेदाचार्य

चरक सूत्रस्थान अध्याय, १ श्लोक ८० में एकोन विंशति फलिनी औषधियों की गणना में सब से प्रथम शङ्खिनी की गणना की है यहाँ विरेचनकारी फलों का ग्रहण किया गया है। चरक के पढ़ने पढ़ाने वाले प्राचीन नवीन दोनों तरह के विद्वान् इस समय उपस्थित हैं। फिर भी सन्दिग्ध औषधियों का निर्णय न होना महान् आश्चर्य की बात है।

सम्मतियाँ—

(१) चरक टीकाकार चक्रपाणिने—शङ्खिनी को श्वेतबुन्हा लिखा है। बुन्हा किसका नाम है इसका ठीक पता नहीं चलता। फिर भी बुन्हा शब्द के साथ श्वेत शब्द को देखकर नीलबुन्हा का भी अनुभव होता है। यदि श्वेतबुन्हा शङ्खिनी है तो नीलबुन्हा भी किसी प्रकार की शङ्खिनी हो सकती है।

(२) चरक सूत्रस्थान अध्याय १ सूत्र ८१ में अन्तःकोटरपुष्पी शब्द का पर्याय वाची नीलबुन्हा शब्द भी नीलीबुन्हा (नील शङ्खिनी) का वाचक होता है। एक टीकाकार ने नीलबुन्हा को वृद्धदारू लिखा है।

(३) चरक चिकित्सास्थान अध्याय १३ उदर-चिकित्सा में वर्णन किये हुए सूत्र १२१ नारायण चूर्ण में शङ्खिनी पर्यायवाचक श्वेत भल्लातक लिखा है। इसी प्रकार चरक संहिता में कल्पस्थान आदि अनेक स्थानों में जहाँ जहाँ शङ्खिनी शब्द आया है वहाँ श्वेत बुन्हा पर्याय वाचक लिखा है।

इस बात से पाठकों को स्पष्ट विदित होता है कि चरकसंहिता के टीकाकार चक्रपाणिदत्त जी भी शङ्खिनी के ज्ञान में भ्रान्त रहे। इसी प्रकार इस टीका

के अनुसार भाषा टीका करनेवाले भी उसी श्रेणी में समझे जा सकते हैं।

(४) सुश्रुत संहिता, चिकित्सास्थान, अध्याय ५-१४-१६ की डल्लणाचार्य की टीका में-शङ्खिनी यव तिक्ताभेदः।

(५) इसी प्रकार चि० स्थान, सूत्र ३० डल्लण की टीका—शङ्खिनी यवतिक्ताभेदः।

(६) सु० चि० स्थान, सूत्र ३६—यवतिक्तभेदः श्वेतबुध्ना इत्यपरे।

(७) सूत्र ३७ में सुदुग्धा वृहत्पत्रा यवतिक्ता भेदः—सुन्दर दूधवाली बड़े पत्तों वाली यवतिक्ता का भेद है।

(८) चिकित्सास्थान, अध्याय १०, तत्सप्तलाभेदः यहाँ सप्तला (सातला) का भेद वनाया।

(९) चि० स्थान, सूत्र ४५, श्वेतश्रीफलिका अन्ये यवतिक्तामाहुः। यहाँ श्वेतश्रीफलि को यव. तिक्त बनाकर दूसरे मत में यवतिक्ता वताया है।

यहाँ यह भी वात याद रखने की है कि सातला के वर्णन में डल्लण ने शङ्खिनी के तुल्य कहीं सेहुण्ड कहीं सेहुण्ड भेद, कहीं शङ्खिनी भेद, कहीं स्नुहीभेद वताया है। कहीं सुश्रुत सूत्रस्थानमे यवतिक्ता भेद लिखा है। इस सुश्रुतके डल्लण टीकाकारके लेख से भी शाङ्खिनी का कुछ पता नहीं लगता है। किन्तु डल्लण का ज्ञान भी शङ्खिनी से शून्य प्रतीत होता है।

(१०)वाग्भट्टाचार्य के अष्टाङ्ग हृदय की सर्वाङ्ग सुन्दरी टीका में सू० स्थान अ० २ सूत्र १५ में शङ्खिनी यवतिक्ता—ऐसा लिखा है।

(११) चक्रदत्त में श्लो० ४११ पृष्ठ ३४१ शङ्खिनी यवतिक्ता ढोलकलम्बीत्यपरे शङ्खिनी यवतिक्ता है। अन्य मत से ढोलकलम्बी वताया गया है।

(१२) शार्ङ्गधर संहिता,मध्यम खण्ड, अध्याय ६, श्लोक ६०, शङ्खिनी-शङ्खपुष्पी इति आढमल्लीटीकाकार एवं शार्ङ्गधर, मध्यम खण्ड, अध्याय १, श्लोक १८ में शङ्खिनी-शङ्खपुष्पी नाकुलीति प्रसिद्धा-आढमल्ली टीका।

(१२) वाग्भट संहिता से भी कुछ निश्चय नहीं हो सकता। वही बात चक्रदत्त से भी स्पष्ट होती है। परन्तु तीसरा मत ढोलकलम्बी शङ्खिनी का नाम नया मालूम हुआ।

(१३) शार्ङ्गधर संहिता के आढमल्ली टीकाकार का शङ्खिनी को शङ्खपुष्पी लिखकर नाकुली लिखना अत्यन्त अनर्थकर एवं सन्देहोत्पादक है। शङ्खिनी का नाम शङ्खपुष्पी लिखना नहीं चाहिये। यदि किसी प्रकार लिख भी दिया तो आगे दूसरा नाकुली पर्यायवाची लिखना अत्यन्त भ्रमोत्पादक है। क्योंकि नाकुली शङ्खिनी का वाचक होने पर अनेक औषधों का वाचक है यदि यवतिक्त वाचक समझ कर शुद्ध समझ लिया जावे तो शङ्खपुष्पी नाम व्यर्थ हो जाता है।

शङ्खिनी का पर्याय वाचक क्या श्वेतबुन्हा है? इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि यह संस्कृत शब्द नहीं, किन्तु वङ्ग भाषा का शब्द है। फिर भी वैद्यक शब्द सिन्धु कोष में इसको लिख दिया गया। श्वेतबुन्हा स्वनामख्यात लता; विशेष वैद्यकशब्दसिन्धुकार ने पर्य्याय मुक्तावलि नामक नूतन कल्पित ग्रन्थ से ग्रहण किया है।

श्वेत बुन्हा कपीतस्तु वनतिक्ताविसर्पिणी,
शंखिनो काकचिंचा च गिरिजा धूसरच्छदा।

वङ्गला में श्वेतबुन्हा को शादा बोना कहते हैं। हमको तो पर्य्याय मुक्तावलि को श्लोक कल्पित मालूम पड़ते हैं जिसका प्रमाण पाठक आगेकी पक्तियाँ पढ़कर समझ सकेंगे।

वनतिक्ता-पाठायां [वनतिक्ता पाठा का वाचक] बङ्गाल में आकनादि कहते हैं।

कपीतः-श्वेतबुन्हायां-रसमाधवे [रसमाधव में कपीत श्वेतबुन्हा का नाम है] विसर्पिणी-श्वेतबुन्हा-यवतिक्तालतायाम् । [विशेष फैलने के कारण विसर्पिणीनाम है, और यवतिक्तानामक लता का वाचक है। शङ्खिनी—चोरपुष्पी चोरडली पूर्ववङ्गे यवतिक्तालतायां श्वेतबुन्हायां-श्वेतापराजितायाम् । वैदिक निघंटु में [शङ्खिनी चोरपुष्पी को कहते हैं। पूर्ववङ्ग में चोरडली कहते हैं। श्वेत अपराजिता (सफेद कोयल को कहते हैं) शङ्खिनी शुक्लपुन्नाग वृक्षे इति विश्वकोषे (विश्वकोष के अनुसार पुन्नाग वृक्ष का नाम है) श्वेतचूकायां-शब्दरत्ने—शब्दरत्नानुसार शङ्खिनी को सफेद चूका भी लिखा है।

धूसरच्छदा-शुक्लपुष्परास्नायाम्-इति वैदिक निघण्टुः । [धूसरच्छदा-शुक्लपुष्पवाली रास्ना का वाचक है] गिरजानुजा । यह शब्द अशुद्ध है यह गिरिपर्वत-सानु (शिखर) में होने वाली-गिरिसानुजा। इस पर्य्यायमुक्तावलि के श्लोक से शङ्खिनी की कोई ऐसी बात समझ में नहीं आती है जिससे शंखिनी की परीक्षा सम्बन्धी कोई बात सिद्ध हो कर कार्य्य निकल सके। किन्तु मनुष्य भ्रम में पड़ सकता है।

नवीन निघण्टुकारों की सम्मतियाँ

आदर्श निघण्टुकारने कूष्माण्डादि वर्ग में स्थित एक विलक्षण औषधि को शंखिनी माना है। आपने शिवानिघण्टूक्त वचन के आधार पर भगलिंगी को शंख सदृश बीजों वाली अक्षिपीड़ा-नेत्रों में रस लग जाने से नेत्रों को पीड़ा देने वाली मान कर शंखिनी बताया है।

शंखिनी शंखबीजास्यात् सुवृत्तफलिका च सा।
शिवलिङ्गी समावल्ली पाके रक्तफला भवेत् ॥
इति शिवनिघण्टुः।

जब किसी प्रकार के निर्णय करने का आश्रय नहीं मिलता तब किसी न किसी प्रकार की कल्पना करके कार्य सिद्ध किया जाता है। इसी प्रकार शंखिनी ज्ञान का अभाव देख कर कुछ करना पड़ता है। यह शिवलिङ्गी के समान गोल होती है, फल भी उसी प्रकार के होते हैं, पकने पर लाल होते हैं। इसके बीज शंख के समान होते हैं। राजनिघण्टुमें कथित लक्षणानुसार कुछ लक्षण मिलने पर भी यवतिक्ता तिक्तयवा-शब्दोक्त लक्षण इसमें नहीं मिलते। अतएव भगलिङ्गी को शंखिनी नहीं मानना चाहिये।

यवतिक्ता शंखिनी तु दृढ़पादा विसर्पिणी।
नाकुली चाक्षिपीड़ा च नेत्रमिला यशस्करी ॥
शंखिनी कटुतिक्ताम्ला गुर्वी स्निग्धा विशोधिनी।
त्रिदोषशमनी कुष्ठस्वयथूदरनाशिनी ॥
द्वितीये पुस्तके।

यवतिक्ता सुतिक्ता च दोषघ्नी दीपिनी मता।
शंखिनी च रसे तिक्ता मेध्या क्रिमि विषापहा ॥
इति धन्वन्तरिः।

सूक्ष्मपुष्पी यशश्विनी माहेश्वरी तिक्तयवा।
कैयदेव निघण्टु।

विश्वा,चोरपुष्पा, सुकेशिनी, वहुफेना,वहुरसा, यशस्करी, नेत्रमूला, ये नाम धन्वन्तरि और राज निघण्टु से अधिक है। इसी के अनुसार अमर कोष में शंखिनी को चोरपुष्पी लिखा है। जिसके टीकाकार भानुजी दीक्षित ने चोर इव पुष्पं यस्याः रात्रिविकाशित्वात्। शंखिनी शंखाकारपुष्पत्वात्। चोर की तरह रात्रि में फूलने के कारण चोरपुष्पी नाम दिया। शंखपुष्पी भी शंखाकार पुष्प होने से दिया गया है। यदि यही बात मानी जावे तो शंख पुष्पी दिन में फूलती है। रात्रि में नहीं फूलती है।

तो चोरपुष्पी नाम नहीं हो सकता। और शंखपुष्पी और शंखिनी में गुणों का भी विशेष सम्मिश्रण है। अतः शंखपुष्पी नहीं मानी जा सकती अमर कोश का प्रमाण साधारण वाक्य माना जा सकता है। क्योंकि आयुर्वेद का यह ग्रंथ नहीं है। तथा इसका कर्ता भी आयुर्वेदज्ञ नहीं था। अतः अनेक औषधियों के वर्णन में अत्यन्त गड़-वड़ है।

औषधि संग्रहकार-डाक्टर यशवन्त वामन देसाई ने शंखाकार पुष्प होने से विरेचन भेदन गुणविशिष्ट होने के कारण नीलिनी-कालेदाने को शंखिनी लिखा है। जिसको लैटिन में आइपामाहिडरेसिया कहते हैं। डाक्टर साहव ने शंखिनी, दृढ़पादा, यहाँ विसर्पिणी नाम से दो लक्षण समझ कर मान लिया। परन्तु यह सव तिक्ता-तिक्तयवा नहीं होने से तथा अन्य लिखित लक्षण भाव से कालादाना शंखिनी नहीं है। हमारे वङ्गाल के कविराज कालमेघ नामक वूटी को शंखाकार फूल होने से यवाकार फल होने से और तिक्त स्वाद होनेसे शंखिनी मानते हैं। तथा अपनी पुस्तकों में भी लिखते हैं। परन्तु यह दृढ़पादा मजवूत जड़ वाली अक्षिपीड़ा देने वाली नहीं। तथा विसर्पिणी (फैलने वाली) नहीं। इसी वात को लेकर कविराज विरजा चरण गुप्त ने अपने वनौषधि दर्पण में भी खण्डन कर दिया है। अभी इसका ठीक पता नहीं लग सका है। क्योंकि कालमेध में समस्त लक्षण नहीं मिलते इसके वीजों से तेल नहीं निकल सकता यह एक प्रकार का चिरायता है। इसको यू० पी० में कलपनाथ कहते हैं।

यवतिक्ता को प्रथम श्वेतवुन्हा लिखा है। पुनः यवतिक्ता वाचक शंखिनो शब्दको 'यवेचीति लोके प्रसिद्धा" लिखा है। पश्चात् राजनिघंटु वर्ग २३ में पत्रतण्डुली लिखा है। पाठभेद से शंखिनी तण्डुली तथा ऐसा भी लिखा मिलता है। वहां तण्डुली-तण्डुलीय शाके-शशाण्डल्यां मारिषे। तण्डुलीशब्द-तण्डुलीयशाक चौलाई-चौरइया शाक तथा मारिस-लाल चौलाई-[मरसा शाक] में और शशाण्डुली स्वनामा ख्यातफल शाक विशेष (तितकुंड-वंगला) वहुफलातण्डुली, धूम्रा, क्षेत्र-सम्भवा क्षुद्राम्ला, रोमशफला, वृत्तफला।

जिसको वंगला में तितकुत्स कहते हैं यह वहुत फलवाली क्षेत्र में होने वाली उसी की छोटी जाति की धूम्रवर्णा वाली होती है। वड़ी रामशफला-रोमयुक्त फल वाली वृत्तफला, गोल चौड़े फलवाली एक वस्तु होती है। जिसको ढैंढ़स टिंडा मारवाड़ी में टींडसी कहते हैं। सुश्रुत की डल्लण कृत टीका में यवसक्षेत्रेषु जाता (यवों के खेत में होने वाली लिखा है।

इतने उक्त प्रमाणों से वङ्गाल में श्वेतवुन्हा, कालमेघ, शार्ङ्गधर मत से श्वेत भल्लातक, शंखपुष्पी, डल्लण के मत से यवतिक्ता भेद इस शब्द से शंखिनी यवतिक्ता का खास नाम होने पर भी अनेक प्रकार की वतलाता है, जो शास्त्र में कहीं भी नहीं मिलती है। इससे डल्लण का स्वयं भ्रम में पड़कर औरों को भी भ्रम में डालना है। एक तरफ़ डल्लण सातला शब्द में शंखिनी को सातला का भेद लिखता है। इससे सातला अनेक प्रकार की तथा सातला शंखिनी यवतिक्ता एकही प्रतीत होने लगती हैं।

क्षयरोगका संक्षिप्त इतिहास

श्रीयुत् डा० विश्वनाथ पाठक, एल्. एस्. एम्. एफ्.

ईसाके पूर्व सन् (४६०—३७७) में हिपो क्रेटिज नामक चिकित्सक ने जो कि यूनान देश में तत्वज्ञानी सुकरात के काल में जीवित था, सर्वप्रथम क्षयरोग का वर्णन किया है। वह लिखता है कि क्षय रोग प्रायः १८ और ३५ वर्ष की आयुमें होता है और टार Tar इसरोग की औषधि है।

परन्तु हिन्दू धर्म के ग्रन्थों से इस बात का पूर्ण प्रमाण मिलता है कि उपरोक्त समय के पूर्व ही आर्यों को इस भयङ्कर रोग का पता था और वे इसकी बहुत अंशों में सफलता पूर्वक चिकित्सा भी करते थे।

सुकरात ने लिखा है कि यह एक संक्रामक रोग है। ईसाकी पहली सदी (सन५० A.D.) में ग्रीस के चिकित्सक (Aretaeus Capodox) एरीटस कैपोडाक्सने क्षय रोग का वर्णन उसके लक्षणों सहित किया है।

सेलसस Celsus नामी एक रोमन चिकित्सक ने भी इस रोग की तीन दशाओं का वर्णन किया है।

गालेन ने सन् ई० १३० में जो कि हिपाक्रेटिज के पीछे नामी चिकित्सक हुआ है वह भी उपरोक्त राय रखता था।

गालेन की मृत्यु के बहुत वर्षों पीछे इस विषय में उल्लेख करने योग्य कोई खोज नहीं हुई।

आगे चल कर १७ वीं सदी में इस रोग के निदान तथा चिकित्सा के विषयमें फिर प्रबल प्रयत्न आरम्भ हुआ ईसवी सन् (१६१४—७२) के बीच में सिलवियस ने इस रोग पर (Ptractus de Pthisis) पुस्तक लिख कर इस रोग के विषय में ज्ञान फैलाया सन् १६८९ ई० में रिचर्ड मार्टन नामी अंग्रेज चिकित्सक ने इस रोग पर अपने विचार प्रकाशित किये। इसके पश्चात् सिन्डेन हम (१६२४-६९) बूरहाव (१६६८-१७३८) स्वीटन (१७००-३२) मारगागनी (१६८२-१७७१) आनब्रूजर (१७२२—१८०९) इत्यादि चिकित्सकों ने इस पर खोज कर अपने मत प्रकाशित किये।

स्टेथिस्कोपके आविष्कारक डा० लिनेक ने सन् १७-८१ ई० में अपना मत प्रकाशित करते हुये क्षय तथा यक्ष्मा का कारण एक ही बतलाया। इस मत का नाम यूनिटी थ्योरी पड़ा (Unitty thiory) सन् १८२७ में डा० लुईका भी यही मत था और इसी समय से इस रोग पर प्रयोग शालाओं में खोज आरम्भ हुई। इस काल के मुख्य कार्य्य कर्ता नेमिय (१८६६ ई०) और वरचो (१८५० ई०) थे।

सन् (१८४३ ई०) में डा० क्लेनकने खरगोशों पर प्रयोग आरम्भ किये वह खरगोश की मातृका शिरा में रोगोत्पादक पदार्थ प्रवेश करता था। इसी काल में विलेनी (१८६५ ई०) ने इन प्रयोगों को अधिक विस्तार पूर्वक प्रत्यक्ष करना प्रारम्भ किया वह रोगियों के कफ का तथा गऊके रोगजन्य धातुओं का प्रवेश खरगोशों के शरीर में करता था वह एक खरगोश के शरीर में क्षय रोग उत्पन्न करने में समर्थ भी हुआ।

इसके उपरान्त राबर्ट काक (Robert koch) नाम के एक जर्मन डाक्टर ने बड़े परिश्रम के साथ प्रयोग प्रारम्भ किये। पहले तो वह असफल रहा। परन्तु लगातार परिश्रम करने पर वह क्षयरोग ग्रस्त जानवरों के धातुओं में एक प्रकार के अत्यन्त सूक्ष्म कीटाणु दिखाने में समर्थ हुआ उन्हें आज सभ्यसंसारट्यूबरकिल बैसिलस के नाम से जानता है।

"काक" अनेकों प्रयोग करने के पश्चात् क्षय रोग

हरमल

श्रीयुत् ख्याली रामजी द्विवेदी, इन्दौर
सम्पादक—आरोग्य विज्ञान

निखिल भारतवर्षीय २२ वें वैद्य सम्मेलन ग्वालियर की चिकित्सा परिषत् में जब निद्राकर औषधियों के अन्वेषण में अनेक गरायमान्य चिकित्सकों और अनुभवी वैद्यराजों के व्याख्यान हुए और उसमें प्रकारान्तर से अनेक महानुभावों ने "पोटैशियम ब्रोमाइड्" को निद्राकर उपायों में श्रेष्ठ वतलाया उस समय हमने कहा था, पोटैशियम ब्रोमाइड् की जगह आयुर्वेदीय औषधि "हरमल" निद्राकर उपायों के लिये सर्व-श्रेष्ठ है और यह ब्रोमाइड् की अपेक्षा बहुत ही अच्छा काम करती है। इसको खिलाने से तत्काल ही शान्तनिद्रा आ जाती है। रासायनिक गुणों से भी यह कई गुनी अधिक लाभदायक सिद्ध हो चुकी है।

इसके बाद हमारे पास अनेक वैद्य महानुभावों के पत्र आये कि "हरमल क्या वस्तु है और उसके रासायनिक गुणों पर किन किन विद्वानों ने विचार किया है। इसका शास्त्रीय नाम क्या है और आयुर्वेद के कौन कौन से ग्रन्थों में इसका उल्लेख है।" इन प्रश्नों का उत्तर सभी महानुभावों को समयाभाव से पृथक् २ न दे सकने के कारण हम इस पत्र में इसका वर्णन करना उचित समझते हैं।

इसको संस्कृत में कटभी हिन्दी में हरमर, इसबन्द लाहौरी, मराठी में हरमार, बंगला में इसबन्द, और अंग्रेजी में Peganum Harmala पिगेनम हरमल कहते हैं।

हरमल के नाम से नोकदार, साधारण तिकोने, महीन और आसमानी रङ्ग के बीज बाजार में मिलते हैं। ऐसे तो इनमें किसी प्रकार की गन्ध नहीं आती परन्तु मसलने से गाँजे के समान नशीली गन्ध आती है। इसका स्वाद कटु होता है। इसके बीज ईरान से आते हैं। यह मेंहदी के बीजों के समान होते हैं; परन्तु इनका आकार उनसे चौगुना होता है। कभी २ इनमें मेंहदी के बीज भी मिल जाते हैं।

इसके पौधे काश्मीर, पंजाब, सिंध, औरंगाबाद, बीजापुर और इन्दापुर में होते हैं। सिन्ध में भी इसके पौधे विपुल प्रमाण में होते हैं। ये सब पौधे अत्र जङ्गली

(पृष्ठ ११६ का शेषांश)

के कीटाणुओं को रक्तलसिका। (Blood Sirum) का भोजन देकर उनकी वृद्धि करने में सफल हुआ अब उसके सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि क्या वह यदि इस प्रकार उत्पन्न हुए कीटाणुओं को स्वस्थ जीवों में प्रवेश करे तो क्षयरोग की उत्पत्ति उनमें हो सकती है? उसने इसी विचार को लेकर २१७ जीवों के शरीर में जिनमें से ७० गिनीपिग ६ बिल्लियाँ तथा ४४ भेड़ोंमें क्षय रोग के कीटाणुओं को प्रवेश किया और सावधानी से फल की प्रतीक्षा करता रहा। यह बात विचारणीय है कि उन दिनों उसके मस्तिष्क की क्या अवस्था रही होगी। कुछ समय पीछे उसने उन जीवों की परीक्षा की, उनमें कोई जीव ऐसा नहीं था कि जिसमें क्षय की उत्पत्ति न होगई हो !!

सन् १८८२ ई० में "काक" ने अपने प्रयोगों का फल वैज्ञानिक संसार के सम्मुख उपस्थित किया इस खोज से काक की बड़ी प्रसिद्धि हुई और क्षय रोग के कीटाणु उसी के नाम से (Bacillus Tuberculosis of Koch) पुकारे जाने लगे।

हो गये हैं। इनपर फूल और बीज दोनों लगते हैं। इसका पौधा लगभग तीन फुट ऊँचा और बड़े गोखरू के पौधे के समान होता है। इसकी डालियाँ नरम उनपर पत्ते घने, एक एक के अन्तर से लम्बे, हरे, अनीदार तथा बरीक कटे हुए होते हैं। फूल सफेद और इकहरे पंखड़ियाँ चार से पाँच तक जिनमें नरकेशर १२ से १५ होते हैं। अनेक फूलों पर बीजकोश नहीं होते। फल सतापा के फलों के समान तीन पुड़ वाले होते हैं। प्रत्येक पुड़ में १-१ ताम्रवर्णी तिकोना बीज होता है। पौधों में से उग्र और अरुचिकर गन्ध आया करती है। स्वाद कड़ुआ होता है। औषधियों में इसके बीजों का ही उपयोग होता है।

कटभीचेत् कटुरुष्णा गुल्म विषाध्मानशूलदोषघ्नी।
वातकफाजीर्ण रुजां शमनी श्वेता च तत्र गुणयुक्ता॥

अर्थात्—कटभी चरपरी और गरम होती है। गुल्म विष आध्मान, शूल, वात, कफ, और अजीर्ण रोग को दूर करती है। श्वेत कटभी अधिक गुणयुक्त होती है।

—राजनिघंटु

कटभी तु प्रमेहार्शो नाडीव्रणविषकृमीन्।
हन्त्युष्णा कफ कुष्ठघ्नी कटुरूक्षा च कीर्तिता॥
तत्फलं तुवरं ज्ञेयं विशेषात् कफशुक्रजित्॥

कटभी, प्रमेह, बवासीर, नाडीव्रण (नासूर) विष, कृमि, कफ और कुष्ठ को नष्ट करती है। यह गरम चरपरी और रूखी है। इसका फल कसैला और विशेष करके कफ तथा शुक्र नाशक है।

—भाव प्रकाश

रसशास्त्र—हरमल में एक रंगीन राल और दूसरा अम्लद्रव्य है। राल शराब में मिल जाती है और अम्लद्रव्य जल में घुल जाता है। शराब और आसव में दोनों ही तत्व रहते हैं।

गुणधर्म—हरमल संकोच-विकाश-प्रतिबन्धक मादक, स्वप्नजनक, वेदनास्थापक, आर्तवकर, और दुग्धवर्धक है। अधिकमात्रा में लेने से उबासियाँ आकर उलटियाँ होने लगती हैं, परन्तु उलटियाँ कराने के लिये इसका उपयोग नहीं किया जाता है क्योंकि अधिक उलटियाँ होने के पहले ही नशा हो जाता है। इसका नशा गाँजे के समान होता है। गर्भाशय पर इसका प्रभाव 'अरगट' या 'सताप' के समान होता है। यह कुछ कामोत्तेजक भी है। इसमें संकोच-विकास-प्रतिबन्धक क्रम क्रम से शिथिलताकारक और वेदनास्थापक ये तीनों गुण इकट्ठे होने से यह औषधि अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। इसके पञ्चाङ्ग का प्रभाव गाँजे के समान होता है। हरमल में उपयुक्त द्रव्य 'कायेनेल' के समान विषैला है। इसका प्रारम्भिक प्रभाव जीवनद्रव्य (Protoplasm) पर कायेनेल के समान होता है। इससे कृमि लूले हो जाते हैं। इसके द्वारा शारीरिकउष्णता कम होती है और यह मूत्रपिंड व आँतों के द्वारा शरीर के बाहर निकलती है। रक्त, यकृत् और वातनाड़ी व्यूह में इसका बहुत सा अंश नष्ट हो जाता है। फिर भी शरीर की और हृदय की पेशियों पर इसका अवसादक प्रभाव होता है। अधिक मात्रा में लेने से थूक बढ़ता है। खिंचाव शुरू हो जाता है। कुछ समय में अङ्ग बिल्कुल ही शिथिल हो जाता है और श्वास प्रश्वास में बाधा उपस्थित होती है।

मात्रा—पाँच से पन्द्रह रत्ती की मात्रा में जल या ब्राण्डी में देना चाहिये। मध्यम मात्रा ३० रत्ती के बराबर है। अधिक से अधिक मात्रा ६० रत्ती तक की है। इसका क्वाथ या फान्ट भी दिया जाता है। तथा यह आसव में मिला कर भी दी जाती है।

उपयोग—इसका उपयोग वात या कफ प्रधान रोगों में किया जाता है। यह बहुत ही उतम औषधि है।

नव माशे हरमल के बीजों का चूर्ण चार औंस (आध पाव) उबलते हुए पानी में आध घण्टे तक बन्द रखकर पश्चात् कपड़े से छानकर दिन में तीन बार दिया जाता है इसमें शहद भी मिलाया जा सकता है।

अनार्तव पीड़ितार्तव और मूत्रावरोध में हरमल के काढ़े में तिल का तैल और शहद डाल कर दिया जाता है। इन रोगों पर यह बहुत ही अच्छा काम करती है। तथा इन रोगों के अनुकूल है। इस के सेवन से स्त्रियों के आर्तव और दुग्ध में वृद्धि होती है।

आमवात में इससे 'सोड़ा सैलीसिलास' के बजाय शीघ्र ही रोग की वेदना कम हो जाती है। ज्वर, गृध्रसी, अपतन्त्रक, अपस्मार, दृष्टिमांद्य, धनुर्वात और कम्पवात में यह पोटाशियम ब्रोमाइड़ के बजाय बहुत ही अच्छा काम करता है।

दमा, सूखीखाँसी और कुकुरखाँसी में भी इससे बहुत ही अधिक लाभ होता है।

स्पर्श-जन्य-रोग, घाव या व्रण के रोगी के कमरे में और प्रसूति के कमरे में हरमल का धुवाँ दिया जाता है। इसके धुएँ से वायु की दुर्गन्धि का नाश हो जाता है तथा कोथजन्य कृमि भी नष्ट हो जाते हैं। व्रण को भी इसकी धूनी दी जाती है।

पित्ताश्मरी, मूत्राश्मरी और उदरशूल इन रोगों में हरमल की पूरी मात्रा दी जाती है। हिचकी में भी इससे बहुत ही अच्छा लाभ होता है। शोथ का दर्द दूर करने के लिये हरमल पीस कर बाँधते हैं।

विद्वानों की सम्मतियाँ—'आयुर्वेदीय ग्रन्थों में हरमल की गणना रसायन और उन्माद Atrabilis की शोधक औषधियों में की है। वात रोगों में भी इस औषधि का उपयोग होता है। स्त्री पुरुष दोनों में यह औषधि कामोत्तेजना करनेवाली है। इसके सेवन से स्त्रियों के दूध और आर्तव साफ आता है। —डीमक

पञ्जाब प्रान्त में इसके बीजों की मादक द्रव्यों (Narcotic) में गणना की जाती है और ज्वर तथा शूल में उनका उपयोग किया जाता है। इसके पत्तों का क्वाथ आमवात में दिया जाता है। मूल का सूक्ष्म चूर्ण राई के तैल में मिलाकर सिर के बालों में जूं पड़ गई हो तो लगाया जाता है।

—स्टुअर्ड

'गुजरात में रोगी मनुष्यों के कमरे में हवा शुद्ध करने के लिये हरमल की धूप दी जाती है। व्रण, घाव, शीतला वगैरह छूत-रोगों को जन्तु रहित करने के लिये भी इसका धुवाँ दिया जाता है।'

—इवेटसन्स गजेटियर आफ गुजरात, पेज १२

'पञ्जाब निवासी हरमल के बीज निर्बल नेत्रों के लिये तथा मूत्राघात के लिये उपयोग में लाते हैं।'

—होनिङ्ग बर्जरहा, २ पेज २८४

'बम्बई के डाक्टर पाण्डुरङ्ग गोपाल ने इस औषधि के क्वाथ और टिंचर का उपयोग उत्तेजक और आर्तव वर्धक दवाई के तौर पर करके देखा है। उनका कहना है कि—भङ्ग के समान साधारण मादक प्रभाव इससे होता है। एक स्त्री नष्टार्तव से पीड़ित हो रही थी उसे इस औषधि का टिञ्चर आधे ड्राम की मात्रा में देने से थोड़े ही दिनों में उसे शुद्ध आर्तव आने लगा। देशी दाइयाँ गर्भपात कराने के लिये हरमल का उपयोग करती हैं। मेरी यह धारणा है और इसे दृढ़ता से मानता हूँ कि हरमल में अर्गट, सेवाइन और रथू के समान गुण हैं।'

डीमक, पेज २५

डाक्टर मुइउद्दीन शेरिफ लिखते हैं कि—

इसके बीज मादक, आक्षेपहर, निद्राकर, वेदनाहर, वामक और आर्तववर्धक हैं। श्वास, हिक्का, हिस्टेरिया, सन्धिवात, मूत्रनली की पथरी, पित्ताशय की

पथरी, शूल, कामला, अल्पआर्तव, पीडितार्तव, वातरोग (Neuralgia) इन सब रोगों में देने के लिये इसे मैं अत्यन्त ही उपयोगी समझता हूँ। उपर्युक्त सभी रोगों में हरमल के बीज वेदना कम करके निद्रा लाते हैं। ये बीज साधारण खाँसी और अन्य छाती के रोगों में जैसा लाभ पहुँचाते हैं वह अधिकांश अंशों में सन्तोषजनक है। इसमें निद्रालाने की अच्छी ताकत है और अधिक मात्रा में यह अवसादक, वामक, (Depress-antemetic) है। अधिक मात्रा में यह औषधि के तौर पर नहीं दी जाती है क्योंकि डेढ़ ड्राम से दो ड्राम में यह वामक और निद्राकर है। हमारे मतानुसार कोई भी दवाखाना इस देशी उपयोगी और सर्वश्रेष्ठ गुण सम्पन्न औषधि के बिना नहीं रहना चाहिये।

हरमल में से 'हरमेलाइन' नामक अल्कलाइड् निकलता है। यह जे० ए० गुन (एडिनबर्ग रायल सोसायटी २२ नवम्बर १९०६) के मतानुसार क्विनाइन के समान ही उपयोगी है।

सम्भव है कि आगे चल कर ऐसा भी कोई समय आवेगा कि जब हरमेलाइन, क्विनाइन के समान ही उपयोग में आने लगेगी।

जो महाशय इसका रासायनिक पृथक्करण देखना चाहें उन्हें इण्डियन मेडिसनल प्लान्ट्स् देखना चाहिये जिसमें इसका विस्तृत विवेचन है।

—आरोग्य विज्ञान

आकन्द-मदार

श्रीयुत् राजा शशिशेखरेश्वरदेव रायबहादुर।

बङ्गाल देशमें इस फूल को "आकन्द" पञ्जाबमें 'आक' और हम लोग इसे 'मदार' कहा करते हैं। श्वेत-ईषत् कृष्ण वर्ण तथा बैंगनी रंगका भी मदारका फूल होता है। श्वेत मदारही औषधिके लिये प्रशस्त है। बड़े आदमियोंके शौक के बगीचोंमें मदारको कदाचित् ही कोई स्थान मिलता है—प्रायः यह गाँव गँवई के बिना जोते बोये स्थान, टुटे हुए देवालय तथा वन-जङ्गलोंमें किसीके यत्न बिना स्वयं ही उत्पन्न हुआ करता है। इस पुष्पवृक्षका विशेषतः इसके पुष्प की उपकारिताका विषय विचार करनेपर इस वन्य पुष्पको उठाकर शिरपर रख लेनेकी इच्छा होती है। दूधके समान जो रस इसमें से निकलता है, वह मृगी रोगको एक महौषधि है। थोड़ासा चीनीके साथ पीसकर एक रत्ती परिमाण इसका रस मृगीरोगग्रस्त व्यक्ति को प्रतिदिन प्रातः काल एक तोले गरम दूध के साथ खिलानेकी व्यवस्था है। अर्द्धाङ्ग अवश [पक्षघात] रोगी को भी इसी औषधसे उपकार प्राप्त करते देखा गया है। यह एक प्रकारका विष है, इसलिये बड़ी सावधानीसे इसका व्यवहार करना उचित है तथा किसी अवस्था में भी अधिक परिमाण अथवा विशेष दिनों तक इसे व्यवहार करना उचित नहीं है। वृश्चिकादिके दंशन की ज्वाला निवारण करनेकी शक्ति भी इस फूलमें अत्यन्त अधिक है, काटे हुए स्थान पर इसका दूध घिसकर लगाना पड़ता है। हड्डावरैंके काटने पर हमने स्वयं इसका व्यवहार करके उपकार प्राप्त किया है। एक साधुके मुखसे हमने सुना है कि मदारके फूलके दूधके सदृश कुष्ठरोग की प्रत्यक्ष फलप्रद औषधि कोई दूसरी नहीं है। वात की बीमारी में भी इस दूधकी विशेष उपकारिता शक्ति को सुना गया

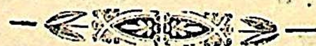
है। और एक व्यक्ति के मुखसे हमने सुना है कि उपदंश-पीड़ाग्रस्त रोगीके पक्षमें भी यह अत्यन्त उपकारी महौषध है। मदार-वृक्ष की मूल (जड़) को सुखाकर उसका चूर्ण नारियलके तैल अथवा घृतके सहित मिश्रित करके मलहमके सदृश चाहे किसी पुराने घाव अथवा बहुत दिनों के क्षत (चोटीले) स्थान-पर लगाने से शीघ्र ही वह पूर्ण हो [भर] जाता है। मदार के मूल का चूर्ण रक्तामाशय की पीड़ा की एक उत्कृष्ट औषध है। अर्क मूलका चूर्ण दधिद्वारा पीसकर दादपर लगाने से अति दुरारोग्य दाद भी अच्छा हो जाता है। वक्ष गुर्दा, पार्श्व [पसली] तथा पेट की वेदनामें मदार के पत्तेके ऊपरकी ओर थोड़ा सा पुराना घी लगाकर, पत्तेको सीधा शरीर के वेदना युक्त स्थानपर लगाकर जितना सहन हो सके उतने गरम किये हुए फ्लालेन द्वारा अथवा कपासकी रुईकी पोटलीद्वारा उस पत्तेका ऊपरी भाग कसके दबाकर कुछ काल तक सेंकनेसे वेदना आरोग्य होते देखा है मदारकी रुई में अत्यन्त श्लेष्मा-नाशक गुण होता है। सद्यःप्रसूत शिशुओंको जब कोई भी औषधि खिलाना सम्भव न हो, उस समय उन लोगोंको अत्यन्त श्लेष्मा-प्रकोप उपस्थित होनेपर उन्हें मदारकी रुई के बिछौनेपर ही सुलाये रखनेसे उनकी प्रधान चिकित्सा हो जाती है। हमारी निजकी शैशवावस्था में उक्त दशामें उपर्युक्तव्यवस्था द्वारा ही जीवन-रक्षा हुई थी। मदारकी रुईद्वारा प्रस्तुत किया हुआ सूत अन्यान्य सूतोंकी अपेक्षा सूक्ष्म तथा बहुत मजबूत होता है। पूर्वकालके सूक्ष्म [महीन] वस्त्रादि इसी मदारकी रुईके सूतद्वारा प्रस्तुत किये जाते थे, ऐसा सुना गया है। हमारी दन्त-वेदना में किसी व्यक्ति ने हमें मदारका दूध निमकके साथ मिलाकर दन्तमूल-मसूड़ोंमें लगाने के लिये बताया था और उसी प्रकार उसका व्यवहार करके हमने फल भी प्राप्त किया था। कानके दर्द में मदारकी कलीका दो चार बूँद रस थोड़ा गरम करके कानमें डालनेसे उपकार होना सुना गया है। यहाँतक हमने नाना स्थानों में अनेक लोगोंके मुखसे मदारकी उपकारिताके जो सब विषय जाने थे, बतलाये। अब आयुर्व्वेदमें उसकी गुणावली के जो सब विवरण हैं, बताते हैं।

आयुर्व्वेद में लिखा हुआ है—

"श्वेत तथा रक्त दोनों प्रकारके ही मदार सारक तथा वायु, कुष्ठ, कण्डु, विष, व्रण (घाव) पिलही, गुल्म, अर्श [बवासीर] कफ, यकृत्, तिल्ली उदर तथा क्रिमि-विनाशक हैं। श्वेतमदार का पुष्प-शुक्र-जनक, लघु अग्नि-दीपक, पाचक तथा अरुचि, प्रसेक, [मुखसे लारटपकना] अर्श, कास (खाँसी) तथा श्वास नाशक है। रक्त मदारका पुष्प-मधुर-तिक्त-रस तथा धारक होता है। यह कुष्ठ, क्रमि, कफ, अर्श विषदोष तथा रक्तपित-नाशक एवं गुल्म तथा शोथ [सूजन] के लिये हितकारक है। मदार का दूध-तिक्त-लवण रस, उष्णवीर्य्य, स्निग्ध तथा लघु होता है। यह कुष्ठ, गुल्म तथा उदररोग-नाशक तथा श्रेष्ठ विरेचक होता है।

"तन्त्रमें अर्ककल्प नामसे कईएक अध्यायों में इसका अनेक विवरण लिखा हुआ है।

"सूर्य्यदेव जीवदेहकी यावतीय व्याधिओंके निरामय-कर्तास्वरूप शास्त्रोंमें वर्णित हुए हैं इसके अतिरिक्त आयुर्व्वेद-शास्त्रमें सूर्य्यके नाम-समूह द्वारा ही उक्त मदारको भी अभिहित किया गया है। हमारे मनमें आता है-मदारको अशेष व्याधिनाशकी क्षमता देखकर ही, उसका इस प्रकार नामकरण किया गया है।"



वेदों में वनौषधि

ले०—गणेशदत्त शर्मा "इन्द्र" आगर

(१)

शरनामक औषधि

वेदों में; मुख्यतः अथर्ववेद में अनेक वनौषधियों का वर्णन पाया जाता है। इनमें से कई तो ऐसी हैं जिनका इस युग में पता तक लगाना असाध्य नहीं तो कष्टसाध्य अवश्य है। वेद में जिस नाम से उन्हें सूचित किया है वे नाम वैद्यक निघण्टु में भी नहीं पाए जाते। विद्वानों को और वनौषधि संशोधकों को वेद वर्णित उन औषधियों की खोज करनी चाहिए जिनका पहचानना कठिन हो रहा है। ऐसा करने से आयुर्वेद की न्यूनता की एक अच्छी पूर्ति होगी। मेरी इच्छा है कि यथासमय वनौषधि के पाठकों के सामने वेद वर्णित वनौषधियों का और उनके द्वारा होने वाले लाभों का संक्षेप में कुछ वर्णन किया करूँ। आज 'शर' नामक औषधि की यहाँ चर्चा करूँगा।

शर

शर को सरकण्डा कहते हैं। यह इसी नाम से अधिक प्रसिद्ध है। राजपूताना, यू० पी०, पञ्जाब आदि प्रान्तों में खूब होता है। यह एक प्रकार की घास है। इसके पेड़ ६,७ फीट तक ऊँचे होते हैं रेतीले बालुकामय स्थान में अधिक होते हैं। ये झुण्ड के झुण्ड उत्पन्न होते हैं, इस कारण राजपूताना में तो इन्हें "झूँडा" ही कहते हैं। इनके पत्तों और छावों से मूँज निकलता है—इस मूँज की रस्सी आदि बनती हैं। भीतर से एक सीधी बेंत के समान छड़ी निकलती है। यह बाण बनाने के काम आती है इसी लिए, बाण को शर कहते हैं। इन शरों द्वारा कुर्सी, मूढे, आदि वस्तुएँ बनाई जाती हैं। हमारे इस विवेचन से पाठक समझ गए होंगे कि "शर" किसे कहते हैं। धन्वन्तरि राजनिघण्टु में इसके चार भेद बताए हैं (१) काश (२) मुञ्ज (३) मृदु दर्भ और (४) शर।

काश के गुण—

काशः स्वादु रसे, तिक्तो विपाके, वीर्यतो हिमः।
तर्पणो, बलकृद्, वृष्यः, श्रम-शोष-भयापहः॥
काशद्वयं च पित्तास्रकृच्छ्रजिन्मधुरं हिमम्।

काश, जिसे काँस कहते हैं, रस में स्वादु, पचने पर तीखा, शीतल—वीर्य, बलदायक, वृष्य, श्रम और शोष-नाशक, रक्तपित्त और मूत्रकृच्छ्र को हटाने वाला है।

मुँज के गुण—

मुञ्जोऽनुष्णोविसर्पास्र मूत्रबस्त्यक्षिरोगनुत्।
बाणाह्वो मधुरः शीतः पित्तदाह तृषापहः॥

मूँज शीतल, खुजली कोढ़, मूत्राशय के रोग और आँखों की बीमारियों को दूर करता है। रस में मधुर तथा पित्त, दाह और प्यास का नाशक है।

दर्भ के गुण—

यज्ञमूलं हिमंरुच्यं मधुरं पित्तनाशनम्।
रक्तज्वर तृषाश्वास कामला दोष शोषकृत्॥
दर्भौ द्वौ च गुणे तुल्यौ तथापि च सितोऽधिकः।
यदि श्वेतकुशा भावस्त्वपरं योजयेद्भिषक्॥

दर्भ—शरका स्वभाव ठंडा, रुचिकर, मधुर, पित्त नाशक, ज्वर, प्यास, श्वास, कामला, पाण्डुरोग, तपेदिक, नाशक है। यह दो प्रकार का है, लाल और श्वेत।

यद्यपि दोनों का गुण समान है तथापि श्वेत अधिक गुणदायक है।

शर के गुण—

शरद्वयं स्यान्मधुरं सतिक्तं
कोष्णं कफभ्रांति मदापहारि।
बलं च वीर्यं च करोति नित्यं
निषेवितं वातकरं च किंचित्॥

शर के दो भेद हैं। एक पतला दूसरा मोटा। दोनों ही मधुर किन्तु कुछ तिक्त स्वाद हैं। दोनों का स्वभाव उष्ण है। कफ, सिर का घूमना, और मद नाशक हैं। बलवीर्य वर्द्धक और कुछ वात उत्पन्नकर्त्ता हैं। ज्वर, अतिसार, मूत्रवेग और नाड़ीव्रणों की चिकित्सा इसके द्वारा हो सकती है। इनका वर्णन आयुर्वेद में मिलेगा। इसके लिए वेद कहता है—

'विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं भूरि धायसम्।
विद्मोष्वस्यमातरं पृथिवीं भूरि वर्चसम्॥
अथर्व। १। २। १

शर का पिता मेघ है। जो विपुल वृष्टि द्वारा ओषधियों को तृप्त करता है। नाना भाँति की ओषधियों को उत्पन्न करने वाली पृथ्वी उसकी माता है। अर्थात् 'शर' नामक ओषधि केवल वृष्टि द्वारा प्राप्त जल पर ही जीवन प्राप्त करती है। ग्रीष्मकाल में वह बिलकुल सूखी हुई जान पड़ती है, परन्तु वर्षा में वह फिर हरी भरी हो जाती है।

यथा द्यां च पृथिवीं चान्तस्तिष्ठति तेजनम्।
एवारोगं चास्राव चान्तस्तिष्ठतु मुञ्जइत्॥
अथर्व १। २। ४

जिस भाँति द्युलोक और पृथ्वी के बीच में सूर्य स्थित है और लोगों के रोगों का नाश करता है उसी तरह मूँज भी, बहुमूत्र, अतीसार, आदि रोगों का नाशक है।

विद्माशरस्यपितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम्।
तेनाते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं
बहिष्टे अस्तु बालिति॥
अथर्व १। ३। १

अपरिमित वीर्यवान् मेघ शर का पिता है यह हम जानते हैं। उस शर से तेरे शरीर की सुखदायक चिकित्सा करता हूँ। तेरा मूत्रस्राव बलपूर्वक बाल् बाल् शब्द करता हुआ पृथ्वी पर आवे। यह तीसरे सूक्त का प्रथम मंत्र है। पाँचवें मंत्र तक सब समान ही हैं। जिस प्रकार पहले में "पर्जन्यं शतवृष्ण्यम्" उसी प्रकार दूसरे में मित्र तीसरे में वरुण चौथे में चन्द्र और पाँचवें में सूर्य को शतवृष्ण्यं कहा है। इनको भी शर का पिता माना है। इस प्रकार पाँच मंत्रों के पश्चात् छठा मंत्र इस प्रकार है—

यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद्वस्तावधि संश्रुतम्।
एवाते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥

जो पेशाब गुर्दों में और गविनी नामक दो मूत्र वाहक नाड़ियों में और मूत्राशय के भीतर—रुका हुआ है, वह तेरा मूत्र शर चिकित्सा द्वारा सहज ही बाहर निकल आवे।

प्रते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव। एवाते मूत्रं—
अथर्व १। ३। ७

तेरी मूत्रनाड़ी को मैं चिकित्सा द्वारा खोलता हूँ। जिससे मूत्र बाहर निकल आवे। जिसप्रकार जल से भरे तालाब का बन्धन तोड़ने पर उसमें से शब्द करता हुआ जल निकलता है उसीप्रकार तेरा पेशाब बाहर होजावे।

विषितं ते वस्तिबिलं समुद्रस्योदधोरिव। एवा०
१। ३। ८

हे मूत्ररोगी! ज्वार के साथ उमड़ते हुए समुद्र का पानी जिस प्रकार नदियों में बहने लगता है, उसीप्रकार तेरे मूत्राशय का मार्ग खुलकर पेशाब निकलने योग्य हो जावे।

उलट कम्बल

श्री लक्ष्मीनारायण शर्मा, अष्टाङ्ग आयुर्वेद कालेज, कलकत्ता।

नाम

संस्कृत—उच्चट। अंग्रेजी—डेविल्स काटन! बंगाली—उलट कम्बल।

प्राप्ति स्थान

बङ्गाल—तथा भारत वर्ष के समस्त उष्ण प्रधान प्रान्त, आसाम॥

प्रयोग में आनेवाला भाग

केवल जड़ की छाल।

संचय काल तथा संरक्षण विधि

प्रातः सभी ऋतुओं में प्राप्य है। मूल की छाल सुखा कर बन्द बोतल में रखने से सुरक्षित रहती है।

रासायनिक संगठन

गोंद तथा मोम, भस्म तत्व, क्षारीय तत्त्व का अभाव।

कार्य Physiological Action

गर्भाशय के लिये अत्युत्तम रसायन है (Uterine Tonic) इसका प्रयोग प्रयोगशाला में करके देखा जा चुका है। एलकोहल (मद्य) अथवा इसी जाति के अन्य किसी द्रव्य के साथ मिलाने से उसका मुख्य तत्त्व (Active Principle) प्रायः नष्ट हो जाता है। लगभग बीस वर्ष पूर्व इसका सत्वरूप (Extract) जर्मनी में रसायनिक परीक्षा के लिये भेजा गया था रसायनिक परीक्षा द्वारा पता चला कि मुख्यतत्त्व नष्टप्राय हो गया है। अतः इसका सत्व (Extract) निकाल कर प्रयोग में लाना नितान्त व्यर्थ है। यह औषधि बाजार में प्रायः (Ext. of Abroma Angusta Liq.) के नाम से सत्वरूप में पाई जाती है इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये क्योंकि यह क्रियाहीन होती है। सर्वदा इसकी जड़ की ताजी छाल प्रयोग करनी चाहिए तथा सुखा कर भी प्रयोग करना चाहिए। इसका आसव भी नहीं बनाना चाहिये क्योंकि मद्य में इसकी शक्ति नष्ट हो जाती है।

(पृष्ठ १२३ का शेषांश)

यथेषुका परापतदवसृष्टाधिधन्वनः।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥६॥

धनुष से छूटा हुआ बाण जिस प्रकार दूर जाकर गिरता है उसी प्रकार तेरा मूत्र भी वस्ति से छूट कर बाल् बाल् शब्द करता हुआ बाहर निकल आवे।

'वेद के इन मन्त्रों से स्पष्ट हो जाता है कि 'शर' नामक वनौषधि मूत्र रोग के अतिरिक्त, ज्वर, कामला, श्वास, पाण्डुरोग तपेदिक आदि के लिए भी यह उपयोगी है। जब तक इन रोगों के निवारणार्थ शर औषधि द्वारा निर्मित नुस्खे न बनाए जायें तब तक यह लेख अधूरा ही है, विद्वान् चिकित्सकों को चाहिए कि उक्त रोगों में 'शर' मिश्रित अपने अनुभूतयोग लिख कर इसके अभाव की पूर्ति करें। आशा है वैद्य लोग इस ओर अवश्य ध्यान देंगे।

मात्रा

ताजी जड़ १ से दो २ तोले तक, ताजागूदा ३० बूँद से ६० बूदें तक और सूखी हुई जड़ की छाल १० से १५ रत्ती तक।

प्रयोग

जड़ अथवा जड़ का गूदा काली मरिच के चूर्ण के साथ मिला कर कष्टयुक्त मासिक होने में मासिम धर्म होने से एक सप्ताह पूर्व अथवा मासिक होते समय दिया जाता है। डाक्टर जे० एच० थौर्नटन साहब लिखते हैं "यह औषधि मासिक धर्म सम्बन्धी कष्ट तथा वेदना के लिये विशेष महत्व रखती है तथा गर्भाशयिक रसायन है। यह मासिक स्राव को भली प्रकार प्रवृत्त करती है। मासिक प्रवृत्त होने के समय कालीमरिच के चूर्ण के साथ खिलाना चाहिए। कालीमरिच का चूर्ण तज्ज-नित उदरविकार को नाश करता है। सर्व प्रथम सन् १८७२ में डा० भुवनमोहन सरकार ने इसे अन्वेषण करके निकाला था और मासिक कष्ट में ३० ग्रेन (१५ रत्ती) की मात्रा में प्रयोग किया था। बिना कालीमरिच के चूर्ण के भी यह केवल मासिक कष्ट का निवारण करता है तथा स्त्रियों में यौवन संचार करता है। गर्भाशय सम्बन्धी रोग तथा मासिक कष्ट में अमेरिका से (Cardiac Alteris) नामक एक पेटेन्ट औषधि आती है प्रायः डाक्टर लोग उसे अधिक प्रयोग में लाते हैं। उसकी अपेक्षा यह औषधि अधिक लाभप्रद सिद्ध हो चुकी है। बङ्गाल में इसका प्रयोग प्रचुर मात्रा में होता है।

वनौषधि अङ्क द्वितीय पृष्ट ४७ पर कर्णिकार शीर्षक लेख में बाबू रूपलाल वैश्य लिखित उलट कमल का वर्णन पढ़िये।

ब्राह्मी

श्रीदेवदत्तशर्मा भारद्वाज
अष्टांग-आयुर्वेदिक कालेज, कलकत्ता

यह एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण भारतीय वनौपधि है। यह हिमालय में हरिद्वार और ऋषिकेश के ऊपर मिलती है। इसका क्षुप होता है। स्वाद में कटु होती है। भारतीय वनस्पतियों में बुद्धि विकाशकारी औषधियों में सर्वश्रेष्ठ होने के कारण ही इसको—सरस्वती, सोमवल्लरी, ब्रह्मचारिणी, सौम्या, सुरश्रेष्ठा, दिव्यतेजा, महौपधि, सुरेष्टा, ब्रह्मकन्यका, मेधा, वरा, परमेष्ठिनी, दिव्या, शारदा, इत्यादि नामों से महर्षियों ने वर्णन किया है।

ब्राह्मी हिमा सरा तिक्ता, लघुर्मेध्या च शीतला।
कषाया मधुरा स्वादुपाकायुष्या रसायनी॥
स्वर्या स्मृतिप्रदा कुष्ठपाण्डुमेहास्र कासजित्-
विषशोथहरी..........................

भावप्रकाश

राजनिघंटुकार ने भी इसके गुणों को लिखा है। जैसे:—हिमा, कपाया, तिक्ता, रक्तपित्तघ्नी बुद्धि-प्रज्ञामेधाकरी, आयुष्करी च।

जिस प्रकार इसका प्रभाव बुद्धि और मेधाशक्ति पर पड़ता है उससे कहीं अधिक यह आयु वृद्धि करने की शक्ति रखती है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने अन्वेपण कर देखा है कि चीन के "लीचिंगियन" नामक व्यक्ति जिनकी आयु २५० वर्ष की बतलायी जाती है वह इसी भारतीय "ब्राह्मी" को प्रति दिन सेवन करके इतनी दीर्घ आयु और जीवनीशक्ति प्राप्त कर सके हैं।

इस वनौपधि के इस प्रकार के गुण धर्मों से प्रभावान्वित होकर ब्रिटिश गवर्नमेन्ट और फ्रेंच गवर्नमेंट ने इस के रासायनिक तत्वोंके संशोधन और अन्वेपण के लिये एक कमेटी नियुक्त कर दी है।

यह नहीं कि इसमें केवल यही कमेटी काम करती है, गुणग्राही विदेशी विद्वान् बहुत पहले से ही इस औपधि के अन्वेपण में लगे हैं। इंगलैंड के एक बहुत बड़े डाक्टर का अन्वेपण निकला है जिसमें लिखा है:—

"इस वनस्पति के छोटे से पौधे में अनेक रोगों को मिटाने की अद्भुत् शक्ति है परन्तु अन्य रोगों के लिये इसके साथ अन्य वनस्पतियों का मिश्रण कर उपयोग करना चाहिये। किन्तु इसकी केवल दो पत्तियाँ अगर प्रति दिन दो बार सेवन किया जावे तो इससे मनुष्य की आयु और जीवन शक्ति बहुत बढ़ जाती है।

फ्रांस के एक वैज्ञानिक ने लिखा है—

इस वनौपधि के भीतर एक ऐसी शक्ति है कि यह मस्तिष्क के ज्ञान तन्तुओं को नवजीवन प्रदान करती है। इसी कारण से फ्रांस और अलजीरिया में गवर्नमेन्ट ने इसकी खेती करानी प्रारंभ कर दी है।

हमारी ब्रिटिश गवर्नमेन्ट ने लंका में इस वनौपधि का विशेप अन्वेपण करने के लिये देशी औपधियों के तत्वान्वेपण करने वाले एक कालेज

को खास तौर से ग्रांट देकर विशेष अनुसन्धान करने का कार्य सौंपा है।

लंका निवासी इस वनौषधि को एक ईश्वरीय आशीर्वाद समझते हैं। उनका विश्वास है कि वहाँ के जंगली हाथियों में सैकड़ों वर्षों तक प्रजोत्पत्ति करने की शक्ति रहती है, उसका प्रधान कारण यही है कि वे जङ्गल में इस वनौषधि को खूब खाते हैं। एक वैज्ञानिक ने लिखा है—

सबसे अधिक विशेषता इसमें यह है कि इस वनौषधि का किंचित् मात्रा मेंभी उपयोग करने से जीवनशक्ति बढ़ती है, अङ्ग पुष्ट होते हैं तथा रोग, वृद्धावस्था और मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की शक्ति प्राप्त होती है।

यह तो रही विदेशी गुणग्राहियों की बातें अब तनिक अपने देश के चिकित्सकों पर दृष्टिपात कीजिये। अपने को महर्षि अग्निवेश के एक मात्र उत्तराधिकारी समझने वाले कुछ वङ्ग और कलिङ्ग के कविराज जलनिम्ब नामक औषधि को ब्राह्मी मानते हैं। केवल भारत केही वैद्य क्यों दुनियाँ एक तरफ होकर भी अगर उनसे कहे की महाशय! पवित्र हिमालय के शिखरों पर होने वाली ब्राह्मी ही असली ब्राह्मी है। जिसके लिये उपर्युक्त विदेशी विद्वान् इतना लिख रहे हैं और अन्वेषण करते हैं, वास्तव में वह वही उत्तराखण्ड की सोम गुण विशिष्ट ब्राह्मी है किन्तु वे अपने "एक गृह" को नहीं छोड़ेंगे वे तो वही ताल तलैयों और आनूप देश में पैदा होने वाली जलनिम्ब को ही ब्राह्मी कहेंगे। अस्तु! इन पंक्तियों के लिखने से पाठक यह न समझ लें कि जलनिम्ब में ब्राह्मी के समान गुण नहीं है। उसमें भी गुण अवश्य है किन्तु उत्तरा खण्डकी ब्राह्मी में जहाँ आयुवर्द्धक, बुद्धि परिस्कारक एवं स्वरमाधुर्यकारक तीन विशेष गुण हैं वहाँ जलनिम्ब में सारक, रक्तपरिस्कारक और शीतोत्पादक गुण विशेष हैं। ज्ञानतन्तुओं पर उत्तरा खण्ड की ब्राह्मी का जितना प्रभाव पड़ता है उतना जलनिम्ब का नहीं होता यह अनुभव सिद्ध है इसी तरह रक्त परिष्कार तथा शरीर पर के छोटे छोटे व्रण में जितना शीघ्र जलनिम्ब काम करता है उतना हिमालय की ब्राह्मी नहीं करती।

जो कुछ हो उत्तराखण्ड की ब्राह्मी ही ब्राह्मी, सरस्वती, मेधा, शारदा आदि नामसे अभिहित करने योग्य है। इसके समान भारत में कोई भी औषधि नहीं है जो एक साथही आयु, बुद्धि और स्वर तीनों पर समान प्रभाव डाले अतः एक प्राणाचार्य के नाते, कर्त्तव्य मुझे यह कहने के लिये बाध्य करता है कि प्रत्येक मनुष्य को इसकी कुछ पत्तियाँ रोज सेवन करनी चाहिये। मेरा पूर्ण विश्वास है कि इससे अकाल मृत्यु का डर दूर हो जायगी और बिहित कर्मोंसे विपरीत बुद्धि न होगी जिसके कारण व्यक्ति, समाज और देश का सर्वनाश हो जाता है।

लक्ष्मणा: पुत्रजननी

ले०—श्रीयुत दाउजी, दैवज्ञ वाचस्पति

ज्योतिष का व्यवसाय मेरी कुलपरम्परा से चला आ रहा है। खूब याद है कि मुझे लघु पढ़ाते समय पिताजी अन्यान्य विद्वानों के आजाने पर ज्योतिष के साथ तन्त्र और आयुर्वेद का अभिन्न सम्बन्ध बतलाया करते थे तथा उस विषय की बड़ी २ मनोरञ्जक बातें किया करते थे उसी समय से मेरे हृदय में यह भावना जमने लगी कि मैं भी अवश्य इस प्रकार की चमत्कारिक क्रियावों का अन्वेषण करूंगा अस्तु ! आज मैं उसी प्रकार के एक विशिष्ट वनौषधि का परिचय पाठकों को दे रहा हूँ। अगर पाठको मेसे किसी एक नेभी इस महौषधि को प्राप्त कर इसका लाभ उठाया तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूंगा।

आज से लगभग १८ वर्ष पूर्व की बात है कि रातू गढ़ जिला छोटा नागपूर निवासी श्री तोषमणि और पं० रामकृष्ण जी से मेरी मुलाकात हुई। उनलोगों ने मुझे इस महौषधि की बड़ी प्रशंसा सुनायी और इसके अद्भुत चमत्कारों का प्रमाण भी दिया। न केवल इतना ही किन्तु उन्होंने इसकी उत्पत्ति भूमि भी बतलायी, तदनुसार मैं—विहार के गया जिले में गया और वहाँ रामशिला के आस पास पहाड़ियों की शृङ्खलावों मे इसकी खोज की। उन लोगों के कथनानुसार एक प्रकार के क्षुप मुझे मिले जिनकी पत्तियाँ पान के पत्ते के सदृश दो तीन अंगुल चौड़ी थीं और उनपर लाल रेखायें थी। उनको लाकर मैंने विधि पूर्वक प्रयोग किया किन्तु दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि उससे कुछ भी लाभ नहीं हुआ। सब परिश्रम व्यर्थ गया और मैं क्षुब्ध होकर बैठ रहा।

इसके दो वर्षों बाद—जब कि मैं तन्त्र के ग्रन्थों को पढ़ रहा था तो मेरुतन्त्र, नागार्जुनतन्त्र और कामोड्डीश तन्त्रों मे फिरभी मुझे लक्ष्मणा की प्रशंसा दीख पड़ी। इधर ज्योतिष के वृद्धशार्ङ्गधर संहिता, नारद संहिता और फलित कल्पद्रुम में भी लक्ष्मणा की प्रयोग प्रणाली दिखाई पड़ी; मेरी उत्कंठा और बढ़ी और मैंने फिर आयुर्वेद के ग्रन्थों को देखना शुरू किया। भाव प्रकाश में इसके नाम दीख पड़े पुत्र कन्दा, पुत्रदा, नागपत्री, नागाह्वा, नागिनी, तुलिनी अस्रबिन्दुच्छदा, लक्ष्मणा जटा, पुच्छदा इत्यादि।

लक्षणोंकी खोज की तो—

पुत्राकारक रक्ताल्प विन्दुभिर्लाञ्छिता सदा।
लक्ष्मणा पुत्र जननी वस्तगन्धाकृतिर्भवेत ॥

राज निघंटुवल्लभ में मधुरा, शीतला, वन्ध्यादोषघ्नी, रसायनो, बल्या, त्रिदोषघ्नी, इत्यादि गुणावली दीख पड़ी।

अन्तमें इन सब गुणों के देखने से मेरी धारणा दृढ़ हो गयी कि अवश्य ही इस प्रकार की कोई लक्ष्मणा नामकी औषधि है जिसमें पुत्रोत्पन्न करने की शक्ति वर्तमान है। किन्तु गया की लक्ष्मणा, लक्ष्मणा नहीं है। उससे भिन्न कोई और अन्य महौषधि इस नामकी अवश्य है!

यह कहावत मशहूर है "जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ" मैं लगभग १९७३ सम्वत में ऋषिकेश गया। वहाँ के साधुओं से मैंने इस वनौषधि के बारे में पूछ ताछ शुरू की फलतः एक साधुने बतलाया कि यहाँ से उत्तर पूर्व भाग में लगभग दो मील के बाद लक्ष्मणा

झूला के समीप एक सोता है—उसी के किनारे यह मिलेगी। मैं वहां गया किन्तु औषधि नहीं मिली। प्रायः मैं १५ दिनों तक लगातार इसकी खोजमे रहा किन्तु फिर भी व्यर्थ। अन्त में वहाँ एक दूसरे महात्मा मिले, उन्होंने अपने साथ लेजाकर मुझे वह बूटी दिखलाई। वे क्षुप कोई १० इञ्च लम्बे थे। ब्राह्मी की पत्ती से कुछ बड़ी-बड़ी पत्तियाँ थीं, उपर अस्पष्ट दो नोक और नीचे पान की तरह कुछ नुकीली थीं। किन्हीं पत्तियों पर लाल और किन्हीं पर सफेद२ चिन्ह थे। डंठल कुछ सफेदी मायल गुलाबी रंग के थे। किसी प्रकार के फूल या कन्द नहीं दीख पड़े। जल के समीप ही इसके क्षुप थे। उस महात्मा ने बतलाया कि श्वेत चिह्न पत्तों के प्रयोग से कन्या और रक्त चिन्ह वाले से पुत्र पैदा होते हैं। प्रायः यह बात प्रचलित है कि लक्ष्मणा श्वेत कंटकारी को कहते हैं और उसीसे पुत्र पैदा होता है, यह धारणा इस क्षुप के देखने से बदल गयी। कंटकारी के समान न तो इस क्षुप में कांटे थे और न तो उसके समान फल, फूल और पत्ते ही। मेरी समझ से लक्ष्मणा श्वेत कंटकारी का भी पर्यायवाची है किन्तु स्वतः लक्ष्मणा है अन्य प्रकार की ही बूटी। हाँ! उस साधु को मैंने गया वाली लक्ष्मणा की कथा सुनाई तो उन्होंने कहा वह भी लघु लक्ष्मणा है किन्तु उससे निश्चित फल नहीं देखा जाता। हो सकता है कि कुछ दिनों के लगातार सेवन से वह कोई प्रभाव दिखलावे।

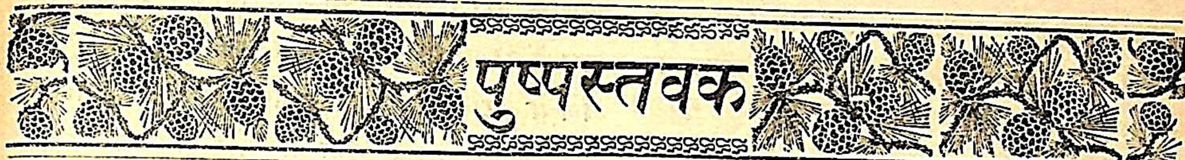
इसके बाद इसकी सत्यता जाँच करने के लिये मैंने इसका प्रयोग शुरू किया सर्व प्रथम १९७३ में गुजरात प्रान्त में सिद्धपुर स्थान के निवासी पं० प्रयाग शंकर पंड्या के श्रीमती को दिया ईश्वर की दया से उन्हें गर्भ स्थिति हुई और पुत्रोत्पत्ति भी यथा समय हुई। इसके बाद दूसरा प्रयोग १९७४ में बिहार प्रान्त के हजारीबाग जिले में गांवा के रईस टिकैत श्रीकृष्ण प्रसाद सिंहजी के यहाँ मैंने इसका प्रयोग किया यहाँ भी पुत्रोत्पत्ति हुई किन्तु यहाँ मुझे यह अनुभव हुआ कि प्रयोग के पूर्व गणेशादि देवनावों की पूजा इत्यादि अवश्य कर देनी चाहिये। अन्यथा इससे अनिष्ट भी हो जाता है। शास्त्रों में भी ऐसाही लिखाहै। क्योंकि मैंने पूर्वकर्म किये बिनाही इसका प्रयोग कर दिया था और फल यह हुआ कि प्रसूता की मृत्यु होगयी। फिर दस वर्षों बाद सम्वत् ८४ में इन्हीं महाशय के यहाँ दूसरी स्त्री को भी इस औषधि की आवश्यकता पड़ी और उसका प्रयोग करने पर इन्हे भी पुत्रोत्पन्न हुआ।

इन्हीं दिनों ८३ में काशी निवासी बाबू विश्वनाथ प्रसाद खत्री के यहाँ भी इसका प्रयोग किया और वहाँ भी पुत्रोत्पत्ति हुई।

इसके बाद अर्थात् १९८७ में इसका सब से प्रचण्ड प्रभाव दिखाई पड़ा महाराजा बहादूर हथुआ (छपरा बिहार) के यहाँ! इस विषय में मैं यहाँ अधिक लिखना उचित नहीं समझता किन्तु इतना अवश्य है कि इसी औषधि के प्रभाव से इस राज्य में एक महाशय का प्रभाव इतना बढ़ा कि बिहार गवर्नमेण्ट को उनसे आज सत्तर लाख रुपयों का हिसाब माँगना पड़ा है।

इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ऋतुस्नाता को केवल एक बार ही, वह भी चवन्नी भर की ही मात्रा उष्ण गोदुग्ध जिसमें गोघृत भी मिला हो, के देने से उपर्युक्त लाभ होता है। इसके पञ्चाङ्ग का कल्क प्रयोग किया जाता है।

वर्षा और शरत् में यह मिलती है, किन्तु जब मैं दुबारा इसको लेने पुनः उसी स्थान पर गया तो दुर्भाग्य वश मुझे एक भी पत्ती नहीं मिली। इसमें क्या रहस्य है यह तो रहस्यमय परमात्मा ही जानता होगा!!



गङ्गाजल की रोगनाशक विशुद्धता

फ्रेंच डाक्टर का अन्वेषण

डाक्टर नेलसन लिखते हैं कि हिन्दू, 'गङ्गा' नदी को पवित्र मानते हैं और निश्चय पूर्वक कहते हैं कि इसका जल शुद्ध होता है और दूषित नहीं होता। हमलोग भी यही समझते हैं कि गङ्गा जी से हमेशा गन्दगी बहती रहती है, क्योंकि काशी जी में, जो भारत का तीर्थ स्थान है, लाखों आदमी प्रतिदिन धार्मिक भावना से श्रद्धापूर्वक गङ्गास्नान करते हैं और गन्देनाले, कूड़ा करकट और लाशें भी इसीमें बहाई जाती हैं।

इतने पर भी यह बड़े मजे की बात है कि कलकत्ते से इङ्गलैण्ड जानेवाले जहाज हुगली नदी (गङ्गाजी) से पानी भरकर अपने साथ ले जाते हैं और इङ्गलैण्ड तक यह पानी किसी तरह बिगड़ता नहीं। दूसरी तरफ इङ्गलैण्ड से भारत को छूटनेवाले जहाज इङ्गलैण्ड में स्वच्छ पानी भर कर रख लेते हैं, लेकिन जहाज के बम्बई पहुँचते पहुँचते वह पानी बिगड़ जाता है हालाँ कि कलकत्ते के बनिस्वत बम्बई इङ्गलैण्ड से नजदीक है और वहाँ जहाज कलकत्ते की अपेक्षा एक हफ्ता पहले पहुँच जाता है। इसीलिये जहाजवाले इङ्गलैण्ड के बाद, पोर्ट सईद, स्वेज या अदन में ताजा पानी भर लेते हैं। तो क्या इससे यह समझना चाहिये कि गङ्गा जी का पानी पवित्र है, इसलिये भारत से इङ्गलैण्ड की यात्रा में वह दूषित नहीं होता और टेम्स का पानी अपवित्र है इसलिये भारत आते आते वह रास्ते में खराब हो जाता है!

भले ही आश्चर्यमय दिखाई दे, किन्तु इसका उत्तर यही है, जो सम्भवतः ठीक है, कि गङ्गाजल इसलिये ताजा रहता है कि वह बहुत गन्दा होता है और हाल ही में बहुत से बैक्टोरियालाजिकल (कीट सम्बन्धी) अन्वेषणों से सिद्ध हो गया है कि बात बहुत कुछ ऐसी ही है'।

पिछले दिनों कई मौकों पर जब हैजा आदि महामारियों से मरनेवालों की लाखों लाशें गङ्गा जी में फेंकी गई थीं तो एक फ्रांसीसी डाक्टर, डी हेरेलने लिखा था कि लोग सोचते होंगे कि लाशों के कुछ ही फीट नीचे करोड़ों की संख्या में हैजे आदि के कीड़े भरे पड़े होंगे, लेकिन मुझे एक भी कीड़ा न मिला। उसके बाद डा० हेरेल ने हैजे के कीड़ों को इकट्ठा किया और उन्हें गङ्गाजल में डाल कर रख दिया। थोड़े दिनों के बाद उन्हें यह देख कर महान् आश्चर्य हुआ कि सब के सब कीड़े मर गये। इस प्रकार बोतल में हैजे के ताजे कीड़े भरे गये और उसमें मरे हुए कीड़ों की बोतल से एक बून्द गङ्गाजल टपकाया गया जिससे कुछ दिन बाद बोतल भर के सारे कीड़े मर गये। इसी तरह अगर आप एक तीसरी बोतल में ताजे कीड़े भरें और दूसरे बोतल का एक बूँद जल डाल दें तो तीसरी बोतल के लाखों कीड़े मर जायँ। इसी तरह आप असंख्य बोतलों में कीड़े भरते जाइये और मरे हुए कीड़ों की बोतलों से

सिर्फ एकही एक बूँद सब बोतलों में टपकाते जाइये, आप देखेंगे कि सारे के सारे कीड़ों का खातमा हो गया।

डा० हेरेल ने इस नवीन अन्वेषण के फलस्वरूप अपने कई मरीजों को गङ्गाजल के द्वारा २४ घण्टे के भीतर ही चङ्गा कर दिया। डा० हेरेल का कहना है कि गङ्गाजल से तैयार की गई मेरी औषधि से सिर्फ हैजा और संग्रहणी के ही कीड़े नहीं मरते बल्कि और भी जहरीले कीड़े मर जाते हैं। डा० हेरेल इस समय कई रोगों पर गङ्गाजल से तैयार की हुई 'बैक्टीरिया फेग' नामक औषधि से अपने मरीजों को चङ्गा कर देते हैं।

इस प्रकार गङ्गाजल ने यूरोप के औषधि-शास्त्र में एक नई क्रान्ति मचा दी है।

—"विश्वमित्र"।

आयुर्वेद का महत्व

गत अप्रैल में वङ्गीय आयुर्वैदिक सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन कलकत्ते में हुआ था। उसके सभापति-पद से भाषण करते हुए कविराज-शिरोमणि श्यामदास वाचस्पति ने कहा था—

"जन्म से लेकर मरण तक मनुष्य को स्वास्थ्य-रक्षा के निमित्त क्या क्या करना चाहिये, इसका अति सूक्ष्म एवं विवरणात्मक वर्णन आयुर्वेद में है। बौद्धकाल में भी आयुर्वेद ही प्रधान आरोग्यशास्त्र था। आयुर्वैदिक शस्त्र-चिकित्सा राजाश्रय पाकर अत्युन्नत दशा को प्राप्त थी। मुसलमानी शासन के युग में भी आयुर्वेद के विशेषज्ञ भारत की सीमा से बाहर तक चिकित्सार्थ जाते रहे। इतिहास में इसके उदाहरण उपलब्ध हैं। वर्त्तमान समय में आयुर्वेद को राजाश्रय भी प्राप्त नहीं है। मुसलमानी युग से ही यह विदेशी चिकित्सा-पद्धति के मुकाबले में डटा चला आता है। फिर भी इसका गौरव अक्षुण्ण है। केवल इतना ही, और कुछ न सही, इसके महत्व का यथार्थ सूचक है।"

उसी सभा में महामहोपाध्याय गणनाथ सेन सरस्वती ने अपने व्याख्यान में कहा था—

"आयुर्वेदशास्त्र, केवल भारत ही नहीं, सारे संसार के लिए एक अमूल्य सम्पत्ति है। प्राचीन काल में आरोग्यशास्त्र के सिद्धान्तों की शिक्षा पाने के लिए सारे संसार के लोग भारत के चरणों के समीप बैठते थे। अरब (ईराक), फारस (ईरान), ग्रीस (यूनान) मिश्र, रोम, बर्मा, चीन आदि देश इस अमूल्य शास्त्र की शिक्षाप्राप्ति के लिए भारत का ऋण-स्वीकार करने में कभी कुण्ठित न होते थे। यद्यपि आधुनिक चिकित्सक इसकी प्राचीन महत्ता स्वीकृत करते हुए सकुचाते हैं तथापि डाक्टर वाइज, डाक्टर रायल और स्वर्गीय हकीम अजमल खाँ जैसे पीयूषपाणि चिकित्सकों ने अन्य चिकित्सा-पद्धतियों के मुकाबले में आयुर्वैदिक प्रणाली का मूल्य और महत्व स्पष्ट स्वीकार किया है।"

अन्त में आपने कहा—

"जब तक आयुर्वेदशास्त्रविहित भारतीय औषधियों के प्रचार का प्रयत्न नहीं होता तबतक स्वदेशी प्रचार का आन्दोलन निरर्थक है।"

—"अमृतबाजार पत्रिका" (कलकत्ता)

मुर्दे को ज़िन्दा किया !

हमारे यहाँ मान्यता है कि श्मशान में गया हुआ मुर्दा पुनः नहीं लौटता और दुनिया के आरम्भ से लेकर अब तक यह मान्यता सच्ची सिद्ध होती आ रही है ; परन्तु आज विज्ञान इतना आगे बढ़ गया है कि उसने इस मान्यता को झूठा साबित कर दिखाया है। मास्को यूनिवर्सिटी के प्रो०स्मिरनोव ने हाल में ही एक मृत मनुष्य को जीवित किया है।

घटना इस प्रकार है कि ४७ वर्ष का एक मनुष्य कुछ दिन पहले मास्को के एक मुहल्ले में चलते-चलते ग्यारह बजे सवेरे अचानक मर गया। पुलिस उसे जाँच के लिए उठा ले गई। शाम के ४ तक भिन्न-भिन्न तीन सरकारी डा० यह मत प्रकट कर चुके थे कि इसकी मृत्यु हृदय की गति बन्द होने से हुई है। इसके पश्चात् प्रो० स्मिरनोव के द्वारा एक सरक्युलर में माँगे जाने के कारण वह शव उनके पास भेज दिया गया। डा० स्मिरनोव ने उस मनुष्य की छाती चीर कर हृदय बाहर निकाला और उसे थोड़े इन्जेक्शन दिये। इसके बाद रेडियो के अल्ट्राशार्ट वेव्ज से प्रक्रिया आरम्भ की। ४५ मिनट की प्रक्रिया के पश्चात् हृदय फिर चलने लगा। इसके बाद उसे पुनः छाती में लगा दिया गया। मानव यन्त्र पुनः चालू हो गया और थोड़ी देर में उस मनुष्य ने आँखें खोलीं। आज वह मनुष्य पहले की ही तरह चलने फिरने लगा है।

उस रोज रेडियो पर भाषण करते हुए डा० स्मिरनोव ने प्रकट किया था कि यदि आकस्मिक कारण से हृदय-गति रुक गई हो, तो मेरे खोजे हुए साधनों द्वारा तीन दिन की प्रक्रिया के पश्चात् वह पुनः ज्यों-की-त्यों चालू हो सकती है।

—"जागरण"

भारतीय विष-विज्ञान

सूँघ कर साँप का पता लगाया

मद्रास के स्वास्थ्य विभाग के डायरेक्टर मिस्टर बक की स्त्री ने "मद्रास मेल" में एक भारतीय ग्रामीण की अपूर्व शक्ति का उल्लेख किया है। आप लिखती हैं—मेरे बङ्गले के लगभग ५० गज की दूरी पर एक स्त्री चिल्ला उठी की "मैंने साँप देखा है साँप" मैं शीघ्र ही वहाँ दौड़ी गई पर साँप कहीं दिखाई नहीं पड़ा। उस स्त्री ने कहा कि साँप घासों में घुस गया है, किन्तु भय से मैं घासों में जाने से बाज आई। जिस समय मैं यह सोच रही थी की क्या करूँ ? इतने में उसी समय उधर से कुछ ग्रामीण निकले मैंने उनसे सारा हाल कहा। मेरी बातों के सुन लेने पर उनमें से एक ने कहा कि मैं सूंघ कर बता सकता हूँ कि साँप कहाँ है। यह आदमी चिथड़ा लपेटे हुए था। पहले पूर्व की ओर मुख कर वह चुपचाप खड़ा हो गया और जोरों से साँस लेने लगा। कुछ मिन्टों तक ऐसा करने के बाद उसने कहा कि इस दिशा में साँप नहीं है इसके बाद वह उत्तर की ओर मुड़ा और पूर्ववत् साँस लेने लगा। फिर दक्षिण की ओर मुड़ा। इस प्रकार के कृत्यों से मैं समझी कि वह मुझे ठगने की चेष्टा कर रहा है।

किन्तु दक्षिण की ओर खड़ा होकर जब कई मिन्टों तक उसने तेजी से साँस ली तब उसके चेहरे का रङ्ग बदल गया और उसके हाथ काँपने लगे। इसके बाद वह अपना दहिना हाथ नाक के अग्रभाग पर लेगया और फिर १५ फीट दूर एक जगह दिखाकर उसने बड़ी दृढ़तापूर्वक कहा "वहाँ साँप है।" इसके बाद मैं वहाँ गई किन्तु मुझे साँप दिखाई नहीं पड़ा। इस पर मैंने कहा कि तुमपर मुझे विश्वास नहीं होता। यह सुन कर उस वृद्ध ने अपने साथियों से एक लाठी माँगी। लाठी को

बूढ़े ने बड़ी जोर से जमीन पर पटका। लाठी की चोट खाकर ६ फीट लम्बा घोर विषैला साँप अठारह इञ्च ऊपर हवा में उछल कर फिर घास में गिर गया। देर तक छट पटाने के बाद वह मरगया। मैं इस लीला को देख कर चकित रह गयी और विचारने लगी की सूँघ कर साँप का पता इसने कैसे लगाया ?

इसके बाद वैज्ञानिकों से मैंने पूछ ताछ शुरू की। उन लोगों ने कहा कि सूँघकर साँप का पता लगाया जा सकता है, किन्तु जब मैंने उन लोगों से प्रत्यक्ष कर दिखाने के लिये कहा तो वे तैयार न हो सके। इससे मालूम होता है कि साधारण भारतीयोंमें जितनी शक्ति है उतनी योरप के बड़े बड़े वैज्ञानिकों में भी नहीं है।

—"मद्रासमेल"

संसार का सबसे घातक-विष

अमेरिका में हाल में एक विष का अन्वेषण हुआ है जो दुनियाँ के सब विषों से अधिक घातक है। यह विष पानी को भभकेसे उड़ाकर तैयार किया जाता है। इसका नाम "हेवी वाटर" अर्थात् "भारी पानी" है। इसमें कोई गन्ध या स्वाद नहीं होता। यदि किसी आदमी को खिला दिया जाय तो लाश की डाक्टरी परीक्षा से भी पता न चलेगा कि उसे जहर दिया गया था। यह भारी पानी इतना घातक है कि इसकी छोटी मटर बराबर बूँद भी मनुष्य को मृत्यु की गोद में सुला दे सकती है। छोटे जानवरों और पौधों के लिये तो आधी ही बूँद काफी होगी। एक वैज्ञानिक लन्दनमें भी इस विष के प्रयोग और परीक्षाएँ कर रहें हैं। भारी पानी केवल पानी है जो ओषजन और नत्रजन से मिल कर बना है। इसमें कौनसा तत्व अधिक है यह मालूम नहीं। साधारण पानी से इसका वजन भी बहुत ज्यादा है। यह देर में गरम होता है और जल्द शीतल हो जाता है। इसे अधिक परिमाण में तैयार करनेका प्रयत्न किया जा रहा। इसके लिये कई समुद्रों से पानी का नमूना मँगाया गया, पर सफलता नहीं हुई। इस पानी से समुद्र का समुद्र जहरीला कर दिया जा सकता है।

—"बालक"

अनुभूति

'ब्लडप्रेशर' (रक्तभारातिवृद्धि) की दवा

'धन्वन्तरि' (बङ्गला) सम्पादक कविराज धीरेन्द्रनाथराय कविशेखर एम० एस्-सी० (कलकत्ता) ने 'अमृतबाजार पत्रिका' में लिखा है—

आजकल लोग 'ब्लडप्रेशर' के 'हौआ' से बहुत डरते हैं। लोगों का विश्वास है कि यह बड़ा भारी प्राणघातक रोग है। पर डरने की कोई बात नहीं। इसकी चिन्ता और भीति से ही रोग के लक्षण प्रकट हो जाते हैं। थोड़ी सावधानता से मनुष्य इससे छुटकारा पा सकता है।

पथ्य—इसकी आशङ्का से बचने के लिए भोजन पर ध्यान दो। दूध, मक्खन, फल अधिक खाओ। मांस-मछली से बचे रहो। मूँग की दाल, केला, परवल, हरी-भरी साग-भाजीका सेवन करो। शुद्ध मधु और शीतल जल के साथ नीबू का रस लिया करो। इससे हृदय को शक्ति मिलेगी। अङ्गूर, अनार और सन्तरे का रस विशेष लाभदायक है। दिल और दिमाग की कमजोरी में शतमूली या अश्वगन्ध के साथ उबाले हुए दूध का व्यवहार करो। शतमूली का ताजा रस शुद्ध मधु के साथ लेना और अच्छा होगा। जलपान के लिए आँवले का मुरब्बा बहुत अच्छा होगा।

स्नान—नित्य बदन में खूब तेल मालिश कर नहाओ। तिल का तेल सर्वोत्तम होगा। तड़के उठकर नदी-स्नान करना अत्यंत हितकर होगा।

त्रिफला—पेट को हमेशा साफ रखना बहुत जरूरी है, इसलिए और कोई दस्तावर दवा न लेकर त्रिफला का पानी ही लेना चाहिये। यह मेरा व्यक्तिगत अनुभव है। कई रोगियों पर प्रयोग करके सफल हुआ हूँ। त्रिफला इसके लिये सर्वोत्तम और सहज सुलभ औषधि है। त्रिफला का पानी यों बनाना चाहिये—हरीतकी २, बहेड़ा ४, आमलकी ८, तीनों को तोड़फोड़ कर छोटे छोटे टुकड़े कर लो। रात ही में चार औंस पानी में डाल दो। सुबह पानी छान लो। अगर लगातार तीन चार रोज यह पानी पीने से अभीष्ट फल न हो तो एक या दो हरीतकी और बढ़ा दो। किन्तु चार हरीतकी से कभी अधिक न होने पावे। रोज यह पानी ताजा तैयार करना होगा।

ध्यान रहे—यह पानी और उपर्युक्त पथ्य तथा स्नान—बस इतना ही काफी है। यदि 'ब्लडप्रेशर' बहुत ही अधिक हो तो उक्त त्रिफला जल के साथ ही कुछ दवाएँ भी लेनी होंगी।

छोड़ दो—गरिष्ठभोजन, मादकवस्तुएँ, चाय, तम्बाकू इत्यादि। भारवर्द्धक और वायुकारक भोजन। कड़ी-धूप और सर्दी, अत्यधिक नङ्गे बदन रहना।

आमों का प्रयोग

३० जून के दैनिक 'भारत' में श्री प्रभुनारायण त्रिपाठी 'सुशील' पके आमों के प्रयोग पर लिखते हैं—

"तपेदिक के मरीजों को आम के प्रयोग से अच्छा लाभ होता है। किसी पत्थर या चाँदी की कटोरी में

ठंढे, मीठे, पीले, संकुचित, रसपूर्ण या ८-१० दिन पहिले पाल में रखे हुए आमों का रस १५-२० तोला निचोड़े। उसमें छोटी मक्खियों का शहद ५ तोला मिला कर प्रातः-सायं सेवन करे। साथ ही दिन-रात में दो-तीन वार गाय या वकरी का धारोष्ण दूध मिश्री डाल कर पीए। पानी वहुत कम पीए, पानी के वजाय दूध ही पीए। ताजे पानी के साथ थोड़ी सी वम्बई की सोंठ घिस कर पी जानी चाहिये। इस प्रकार २१ दिन प्रयोग करना चाहिये।"

संग्रहणी के रोगी आम का प्रयोग इस प्रकार करें—

"प्रातःकाल ६ वजे दो वड़े और खूब पके हुए आमों के छिलके छील कर और उनके छोटे-छोटे टुकड़े कर कलईदार कटोरे में रख देना चाहिये। वाद में उस कटोरे में उवाल कर ठंढा किया हुआ इतना दूध डाले, जिससे आम डूव जायँ। वाद में उन आमों के टुकड़ों को चम्मच से खाकर वह दूध ऊपर से पी लेना चाहिये प्रातःकाल इस प्रकार आम खा लेने के वाद फिर दिन भर तीन-तीन घण्टे पर तीन-तीन छटाँक दूध पीना चाहिये, साथ ही इसका खूव ध्यान रखना चाहिये कि आम और दूध के सिवा फिर कोई चीज न खाई जाय। इसके वाद जव दस्तों की संख्या में कमी आ जाय तो मरीज को दो आम दोपहर के समय भी उसी प्रकार दूध के साथ देना चाहिये। कुछ डाक्टरों का कहना है कि यदि दो सप्ताह इसी तरह से आम ही सेवन किया जाय तो संग्रहणी पूरे तौर से काबू में आ जाती है।"

दन्तमञ्जन

३१ मार्च १८८० ई० को स्वामी दयानन्द जीने स्वामी कृपाराम जी को एक पत्र लिखा था जिसमें इस दन्तमञ्जन को बहुत उत्तम बताया गया है। यह पत्र मुझे श्री विद्याधर जी प्राणाचार्य से प्राप्त हुआ है।

—सम्पादक

माजूफल, मोरेठ, पपरिया कत्था, रूमी मस्तगी, नीलाथोथा, ये पाँच चीज वरावर अर्थात् आध पाव से कम न हों। नीलाथोथा को अग्निपर फुला के थोड़ा जल कड़ाहो में रख के बुझा ले और बुझा के शीघ्र निकाल के पाँचों चीजों को अलग पीस ले। उन पाँचों के वरावर आक के जड़ की छाल अर्थात् पृथ्वी में से खोदकर धो डाले कहीं कंकर न रहे। छाल को छोटी छोटी काट के जिस जल में नीला थोथा बुझाया है। उसमें छहों चीजें डाल के लोहे की कड़ाही में लोहे की मुसली से कूटे। जव महीन हो तब निवात स्थान में पीसे जवतक अञ्जन के समान न हो जाय तवतक पीसता रहे। पीछे से किसी शीशी में भर कर रख ले। अगुली से दाँतों और मसूड़ों में मले। इससे दाँत पुष्ट होंगे, न हिलेंगे न गिरेंगे और न पीड़ा होगी।

मनोरञ्जन

सङ्कलयिता—श्रीयुत् शिवपूजन सहाय

एक मनुष्य नेत्र-पीड़ा से व्यथित था। वह पड़ोसी अपूर्वचिकित्सक के पास जाकर बोला—"मेरी चिकित्सा करो।" अश्वचिकित्सक ने उसके नेत्रों में वही औषधि लगा दी जो पशुओं के नेत्रों में लगाया करता था। फलतः वह मनुष्य अन्धा हो गया। जब लोग न्यायाधीश के सामने यह अभियोग ले गये तब न्यायी ने कहा—"चिकित्सक का कोई दोष नहीं है। यदि यह मनुष्य स्वयं गधा न होता तो पशुचिकित्सक के पास क्यों जाता?"

× × ×

डेढ़ सौ वर्ष का एक अरब-निवासी बूढ़ा मर रहा था। जब मैं उसकी रोगशय्या के सिरहाने जा खड़ा हुआ तब वह बोला—"मेरी इच्छा थी कि कुछ समय अपने मनोरथों की पूर्ति में लगाऊँगा, पर दुःख है कि श्वासावरोध हो गया।" मैंने पूछा—"इस समय तुम्हारी कैसी दशा है?" वह बोला—"जब किसी के मुख से एक दाँत तोड़कर निकालते हैं तब उसको कितनी पीड़ा होती है! इसीसे समझ लो कि उस समय मनुष्य की क्या गति होगी जिस समय उसके परमप्रिय शरीर से आत्मा निकल रही है। इस पर मैंने कहा—"यदि तुम कहो तो मैं वैद्य को बुलाऊँ जो तुम्हारी चिकित्सा करे।" उसने आँखें खोलकर हँसते हुए कहा—"अत्यन्त निपुण चिकित्सक भी जब देखेगा कि मेरा रोगी एक जराजर्जर व्यक्ति है तब मन मसोस कर रह जायगा।"

× × ×

मरुस्थल में एक साधु पुरुष पैदल ही यात्रा कर रहे थे। उनके पास न छाता था न जूता। उन्हीं के साथ-साथ एक धनाढ्य मनुष्य ऊँट पर सुखपूर्वक जा रहा था। उसने साधु से कहा—"दुस्साहस मत करो, लौट जाओ, मर जाओगे।" साधु महात्मा ने उसकी बात अनसुनी कर दी। वे भजनानन्द में मस्त चुपचाप चले जा रहे थे। कुछ दूर जाने के बाद वह धनाढ्य मनुष्य स्वयं ही मरुभूमि की प्रचण्ड लू का शिकार हो गया। उसे मरते देख साधु ने उसके पास जाकर कहा—"मैंने दुःख झेल लिया, पर आप हजरत चल बसे! ठीक है, एक मनुष्य एक रोगी के सिरहाने बैठ कर रात भर रोता रहा। सूर्योदय होने पर देखा गया कि रोनेवाला टन बोल गया और रोगी भलाचङ्गा हो गया!"

× × ×

एक ईश्वर-भक्त रात को दस सेर भोजन चट कर जाता था और रात-भर जागकर धर्मशास्त्र का पाठ करता था। यह सुन कर एक महात्मा ने कहा—"यदि वह आधी रोटी खाय और ठीक समय पर सो रहे तो कहीं अधिक पुण्य का भागी होगा।" विद्वानों ने ठीक कहा है—"ऐ मूर्ख, पेट को भोजन से ठसाठस मत भरो, उसे खाली रक्खो, ताकि उसमें ईश्वरीय ज्ञान का प्रकाश फैले। तुम बुद्धि से इसीलिए खाली हो कि नाक तक भोजन से भरे हुए हो।"

× × ×

मन्तव्य

अनभूत औषधियां।

यह एक अत्यन्त निन्दनीय प्रथा हमारे वैद्य समाज में प्रचलित हो रही है कि वे इधर उधर के नुस्खे टटोला करते हैं। इस भावना का प्रोत्साहन आधुनिक आयुर्वैदिक पत्रों द्वारा और जोर पकड़ रहा है। इन पत्रों में कालम के कालम अनुभूत नुस्खे लिखे रहते हैं। हमारे पत्रों के पाठक भी सर्व-प्रथम उसी कालम को देखते हैं केवल देखते ही नहीं, किन्तु उसे बनाते और प्रयोग भी करते हैं, अन्त में जब कुछ फायदा नहीं होता तो कुछ अनाप सनाप लेखक को सुना दिया करते हैं। अगर कोई योग अच्छा निकला तो उसे प्रयोग करने लगते हैं फिर शास्त्रीय औषधियों को देखते भी नहीं। अस्तु! अब हमें यह देखना है कि इससे हमारा कितना लाभ हो रहा है। इससे आयुर्वेद का उत्थान हो रहा है या पतन? क्या इस प्रकार के नुस्खों से आयुर्वेद जीवित रह सकता है? कदापि नहीं, इससे मूर्खता फैल रही है। चरक, सुश्रुत के योग शतशः अनुभूत हैं। इन व्यर्थ के योगों के लिखने से तो यही अच्छा है कि उन्हीं शास्त्रीय औषधियों का प्रयोग किया जाय और उनका फला-फल देखा जाय। सौ दो सौ रोगियोंपर उन्हें प्रयुक्त किया जाय और उस लाभालाभ का अनुपात निकाला जाय अगर सन्तोषपूर्ण लाभ हो तो जनता के सामने उस अन्वेषण को उपस्थित किया जाय, यदि उस औषधि से कोई फल नहीं होता है तो सबके सामने यह प्रकट कर दिया जाय की यह योग व्यर्थ है चाहे वह भले ही ऋषि कल्पित या देव-कल्पित ही क्यों न हो। इस प्रकार के कार्य से हमारे औषधियों की महत्ता बढ़ेगी, हमारा साहित्य कसौटी पर कसा जायगा और वह संसार के सामने खरा उतरेगा।

आज दिन जबकी विज्ञान की तूती बोल रही है, ऐसे समय में निर्मूल और मनगढ़न्त जिसमें कोई तत्व नहीं हो ऐसे साहित्य के प्रचार से उस शास्त्र का जिसमें यह कर्म होता है, उस

पृष्ठ १३७ का शेषांश

फारस देश के एक बादशाह ने पैगम्बर मुहम्मद के पास एक योग्य वैद्य को भेजा। वह साल भर अरब देश में रहा पर किसी ने उससे चिकित्सा नहीं कराई। उसने एक दिन पैगम्बर साहब से शिकायत की। पैगम्बर साहब ने स्पष्ट उत्तर दिया—"यहाँ के लोगों का नियम है कि जबतक भूख के मारे विवश नहीं होते तब तक कुछ भी नहीं खाते और जब थोड़ी भूख बाकी रहती है तभी भोजन से हाथ खींच लेते हैं।" यह सुनकर वैद्य ने कहा—"तब मैं यहाँ किसी मर्ज की दवा नहीं हूँ।"*

× × ×

नोट—*पुस्तक भण्डार (लहेरियासराय) से निकलनेवाली बाल-गुलिस्ताँ सङ्कलित।

समाज का जो उसको काम में ला रहा है, अत्यन्त घृणित पतन हो जायगा। अतः मैं सहयोगी पत्रों से इस प्रथा को दूर करने की अपील करता हूँ। वास्तव में पत्रों की जिम्मेदारी कितनी बड़ी है यह सम्पादक को समझना चाहिये। उसके ऊपर समाज बनाने का कितना बड़ा उत्तरदायित्व है यह ध्यान में रख कर कोई शब्द लिखना चाहिये। वह अपने लेखों से पाठकों का हृदय परिष्कृत कर सकता है, उनके भीतर अद्भुत कर्तव्यशक्ति भर सकता है, वह एक आदर्श चिकित्सक बना सकता है। वह युवकों के भीतर, पाठकों के भीतर, ऐसी भीषण ज्वाला भर सकता है जो सम्प्रति आयुर्वेद जगत् में प्रचलित कुरीतियों को जलाकर ही शान्ती हो सके।

*　　*　　*

डा० सर ब्रह्मचारी।

दिन रात प्रयोगशाला में प्रयोग करके समाज में सहस्रों रोगियों को निरीक्षण करके, चौबीस घण्टे, सोते जागते प्रतिक्षण तल्लीन रहकर तब कहीं विदेशी चिकित्सक एक किसी औषधि को निकाल पाते हैं। कुछ दिन हुए जर्मन से फिरङ्गो-पदंश के लिये सङ्खिया से एक औषधि तैयार की गयी है जिसका नाम है मायोसलवर्सन! इसका दूसरा नाम है ६०६ अर्थात् एक सहस्र रोगियों पर प्रयोग करके देखा गया जिनमें ६०६ मनुष्य पूर्ण-रूपेण रोग निर्मुक्त होगये। इसके कुछ दिनों बाद सङ्खिया से ही जर्मनी के चिकित्सकों ने एक और औषधि तैयार की है जिसका नाम न्यूसलवर्सन इसका दूसरा नाम ९१४ है अर्थात् इससे एक सहस्र रोगियों में ९१४ अच्छे हुए थे।

हमें इससे शिक्षा लेनी चाहिये की इन्हीं द्रव्यों से गुणकारी औषधियाँ किस प्रकार निकाली जायँ। सहस्रों रोगियों पर परीक्षा करने के बाद वह समाज में लायी जायँ। वह वास्तव में राष्ट्र की एक अमूल्य सम्पत्ति हों, जिसपर देश गर्व कर सके।

भारतवर्ष की पत्र-पत्रिकाओं में प्रति समय कुछ न कुछ अनुभूत प्रयोग निकला करते हैं, विचित्र आविष्कार निकलते रहते हैं किन्तु वास्तव में वे कुछ नहीं होते उससे समाज का पतन होता है न की उत्थान। हाँ, आज एक औषधि निकली है जिस पर वास्तव में देश गर्व कर सकता। हिन्दू जाति गर्व सकती है। दुनियाँ जिसके लिये लालायित हो सकती है, अगणित मुमूर्षु जिससे जीवनदान पा सकते हैं! वह है डा० ब्रह्मचारी का काला आजार पर निकला हुआ सूचिकाभरण?

यद्यपि यह हमारा आयुर्वैदिक अन्वेषण नहीं है ऐसा हमें प्रतीत होता है किन्तु यह कबतक के लिये जब तक हम आयुर्वैदिक चिकित्सा-प्रणाली को उतना उन्नत नहीं बनाते। जिस दिन हमारा वैद्य-समाज उन्नत होगा, जिस दिन चरक की तरह पुनः हम गृध्रसी इत्यादि में शिरावस्ति देने लगेंगे उस दिन यही औषधि पहली होगी। जिसे हम दौड़ कर एलोपैथी से यह कहकर छीन लेंगे की यह हमारी सम्पत्ति है। हमारे राष्ट्र की सम्पत्ति है।

आज हम डा० ब्रह्मचारी का स्वागत करते हैं और इस वर्ष में उन्हें अपने अन्वेषण पर मिले हुए "सर" की उपाधि प्राप्ति के लिये बधाई देते हैं।

*　　*　　*

औदुम्बर सार ।

बङ्गाल और बिहार से यही आवाज आरही है कि औदुम्बर सार बहुत गुणकारी सिद्ध हुआ। हमें यह सुनकर अत्यन्त प्रसन्नता होती है। इसके आविष्कारक चम्पारन निवासी चिकित्सक चूड़ामणि कवीन्द्र पं० चन्द्रशेखरधर मिश्र का वास्तव में यह एक महत्वपूर्ण कार्य कहा जा सकता है। डा० गणनाथ सेन के समान चिकित्सकों ने इसे प्रयोग किया है और इसका प्रभाव देखकर चकित हो गये हैं। आज दिन अष्टाङ्ग आयुर्वेद कालेज कलकत्ता इत्यादि बड़ी बड़ी प्रामाणिक संस्थाओंमें भी इसका खुले आम व्यवहार होता है। शल्य-कार्य के लिये भी यह बहुत उत्तम सिद्ध हुआ है। पोटाशियम परमैंगनेट से कहीं अधिक यह व्रण शुद्ध करने की क्षमता रखता है। सारांश यह की इसकी परिचय पुस्तिका में जितने गुण लिखे हैं वे वास्तव में हैं। प्रत्यक्षफल हैं। वैद्य-बन्धुओं से हम हार्दिक अनुरोध करते हैं कि वे इस औषधि को अपनावें इससे लाभ उठावें और जनता का कल्याण करें।

पण्डित जी के हृदय पर ध्यान देने से तो एक बात पर उनके लिये अटूट श्रद्धा उत्पन्न होती है। आजतक हमारे वैद्यों में यही देखा गया है कि अगर उन्हें एक कोई अच्छा योग मालूम हो गया है तो वे उसे अपने पुत्र से भी गुप्त रखते हैं, अपने आप्त विद्यार्थियों को भी नहीं बतलाते अन्त में उस ज्ञान को लिये चिता में जल मरते हैं किन्तु हमारे मिश्रजी ने एक आदर्श स्थापित किया है। अगर आप चाहते तो इसी केवल औदुम्बर सार से लाखों रुपये पैदा कर सकते थे किन्तु ऐसा न कर आपने अपना सर्वस्व जनताके आगे समर्पण कर दिया है इसके साथ साथ इसके लिये सहस्रों रुपये आपने अपने पाकेट से खर्च किये हैं और कर रहे हैं।

यह सब होते हुए भी एक बात के लिये हम मिश्रजीसे प्रार्थना करेंगे कि "कृपाकर औदुम्बरसार को परिचय-पुस्तिका का रूप बदल दें।" भविष्य में अगर ईश्वर ने चाहा तो कुछ अधिक अन्वेषण के पश्चात् इस औषध से कोई ऐसी महत्वपूर्ण वस्तु निकल सकती है जो डा० ब्रह्मचारी के अन्वेषणसे भी अधिक महत्व रखती हो। अतःइस औषधि का जहाँ तक फल देखा गया है उसका तब तक तो प्रचार किया जाय और दूसरी तरफ इसका वैज्ञानिक अन्वेषण हो। आधुनिक प्रकार से भी उसका अन्वेषण हो उसके परमाणुओंका विभाजन किया जाय और उसके अन्दर कार्य करनेवाली शक्ति का पता लगाया जाय। इसके लिये अच्छा हो कि काला आजार पर जिस प्रकार डा० ब्रह्मचारी ने पुस्तक निर्माण किया है, उससे भी कहीं अधिक इसका अन्वेषण-साहित्य बढ़े और इसके भीतर के उस अमृत का पता लग सके जिसके बल पर यह इतना गुणकारी सिद्ध हुआ है!

× × ×

भारत में विदेशी दवा कम्पनी ।

भारत में अङ्गरेजी दवाओं का प्रबल प्रचार कर देश का धन चूसने के लिए लण्डन के पूँजीपतियों के भयानक जाल बिछ रहे हैं। हाल ही में भारतीयों के स्वास्थ्य और धन का शोषण करने के लिये एक वृहत् विदेशी कम्पनी खोलने की आयोजन की जा रही है। अभी हाल ही में बड़ी कौन्सिल के एक सदस्य ने इस विषय पर प्रकाश डाला है। इनका नाम भुवनानन्ददास है। ये डिमोक्रेटिकपार्टी के नेता हैं। आपने इस विषय

पर जो अपना वक्तव्य प्रकाशित कराया है वह आयुर्वेद से सम्बन्ध रखने वालों के लिये भी विचारणीय है। आप कहते हैं :—

"लण्डन से विश्वस्तसूत्र से मुझे समाचार मिला है कि 'इम्पीरियल केमिकल्स' नामक एक कम्पनी हिन्दुस्तान में ५०—६० वरसों तक के लिये दवा तैयार करने का ठेका लेने जा रही है जिसके वारे में भारत सरकार से लिखा पढ़ी भी शुरू हो गयी है। मैंने इसके वारे में एसेम्वली में प्रश्न करने की सूचना भी दी है। मैं आशा करता हूँ कि एसेम्वली को इस पर विचार करने का मौका दिये विना सरकार ठेका न देगी। मुझे मालूम हुआ कि यह कम्पनी करीब ७० लाख की पूँजी से पञ्जाब प्रान्त के झेलम जिले के डण्डोट नामक स्थान में अपना कारखाना खोलने जा रही है। नहीं कहा जा सकता कि इसकी पूँजी और सञ्चालन में भारतीयों का कितना भाग रहेगा। ऐसे कारखाने खोलने के लिये भारत में पूँजी और धन का अभाव नहीं है। अतः हम नहीं चाहते कि औषध सम्बन्धी साधनों को किसी विदेशी कम्पनी के साथ बाधक रख दें। जनता की इसपर ध्यान देना चाहिये मैं नहीं जानता कि मेरे प्रश्न का उत्तर एसेम्वली में मिलेगा या नहीं?"

× × ×

वैद्य-गण ध्यान दें।

यह जानकर सम्भवतः हमारे वैद्य-समाज में कुछ ही लोगों के हृदय पर गहरी चोट पहुँचेगी कि भारत में इतनी वड़ी पूंजी से 'इम्पीरियल केमिकल्स' नामकी विदेशी दवाओं की एक वहुत वड़ी कम्पनी खोली जा रही है, जिसके सञ्चालक लण्डन के पूंजीपति हैं। यह तो निश्चय ही है कि इसके प्रवल प्रचार स्वल्पमूल्यता के कारण आयुर्वैदिक संसार को वहुत वड़ा धक्का लगेगा। क्योंकि हमारे अधिकांश वैद्यगण अपढ़, स्वार्थान्ध और वुद्धू हैं। उन्हें तो किसी भी तरह चार पैसे कमा कर ही कृत-कृत्य हो जाना है। उन वेचारों को क्या मालूम कि हम क्या और कैसे हैं? हमारा अस्तित्व मिटाने के लिये विदेशी शक्तियाँ कितनी तन्मयता और सतर्कता से काम कर रही हैं और हम किस मृत्यु के भयानक गढ़े में गिरते जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में हमारा कुछ कहना अरण्यरोदनमात्र है। फिर भी दुःखदग्ध हृदय से हम इतना अवश्य कहेंगे कि भारत के आर्यचिकित्सक गण अपनी पुरानी आदतों को छोड़कर अपना सुदृढ़ संग्रन्थन वनाकर इसका विरोध और आर्य चिकित्सा का प्रचार करने में कमर कसकर लग जाना चाहिये। जनता के स्वास्थ्य पर अपना अधिकार और उसके हृदय पर अपना सिक्का जमा देना चाहिये कि लाख सिर पटकने पर भी विदेशी दवाओं और कम्पनियों को यहाँ पूर्ण सफलता न मिल सके। और नहीं तो कम से कम अपनी रक्षा तो आवश्यक ही है। यद्यपि यह जीविका का प्रश्न है फिर भी हमारे वैद्य-वन्धुओं के अज्ञानता, आलस्य और शुष्क अभिमानपूर्ण हृदयों पर इस वात का वैठना और उतना कष्ट उठाना ख-पुष्प-कल्पनामात्र ही है। यदि अब भी वैद्य-समाज इस ओर ध्यान न देगा तो उसका दुर्भाग्य ही समझना चाहिये।

× × ×

चरक-अनुसन्धान-भवन, काशी द्वारा प्रस्तुत

मृद्वीका

यह प्रसिद्ध द्राक्षारिष्ट या मृद्वीकासव नहीं, वरन् अनेक दिव्य और विशुद्ध वनौषधियों का अति मधुर और शक्तिशाली पेय है। इसको पीते ही चित्त प्रसन्न हो जाता है। हृदय विकसित हो उठता है, शरीर में स्फूर्ति आ जाती है।

* * *

इसमें लौह, फास्फरस और गन्धक का मधुर मिश्रण है। बुद्धिजीवियों और सदा दुर्बल एवं असमर्थ बने रहने वालों का तो यह प्राण है। दरिद्रता का नाशक है।

* * *

नवयुवकों में नयी उमङ्ग, नया जीवन, नयी लहर और नया खून पैदा करने एवं रक्त-शोधन के लिये यह आ[illegible] सिद्ध हो चुकी है, सेवन करके अनुभव कीजिये।

* * *

इसे पान कर बीसवीं सदी के युवक आयुर्वेद की इस क्रान्तिकारी सफलता पर मुग्ध होकर स्वयं इसके विज्ञापन बन जायँगे; यह हमारा निश्चय है।

* * *

मूल्य लगभग तीन पैसे खुराक

नमूना सिर्फ—आठ आने में

मूल्य एक बोतल (४० खुराक) दो रुपये मात्र।

Regd. No. A. 2477.

हमारी पहिली सफलता—

दशमूल

रजोधर्म सम्बन्धी सभी शिकायतों, प्रदर के समस्त उपद्रवों और प्रसूति की दुर्बलताओं में लगभग एक सौ रोगियों पर छ मास तक निरन्तर परीक्षा करके इसे मैदान में लाया गया है।

इसके अतिरिक्त स्वस्थ गृहलक्ष्मियों के यौवनसौन्दर्य को सजाने और उन्हें सदा प्रफुल्लित रखने में भी इसका अद्‌भुत चमत्कार देखा गया है।

यह स्त्रियों के शरीर को नीरोग कर अङ्ग प्रत्यंग को कस देता है, लाव[illegible]य और लालिमा लाने में कमाल करता है।

[illegible] आपकी सौग्यवती लज्जावश अपने रोगों को छिपाती है त[illegible] आप भी उसे चुपचाप दशमूल पिलाते जाइये। एक बोतल समाप्त होते ही दूसरे के लिये अवश्य तकाजा होगा उस समय आप हमारे विज्ञापन को याद कीजियेगा।

इसमें संसार-प्रसिद्ध दशमूल ही नहीं; ऐसी ऐसी ६२ दिव्यवनौषधियों का अभूतपूर्व सम्मिश्रण है। चित्तप्रसादक स्वाद है, पीने में मधुर और मनोहर है। डाक्टरों के टानिक की शौक मिट जायगी और कम पैसों में अत्यधिक लाभ होगा।

एक पाउण्ड की बोतल [तीस खुराक] दो रुपये,
नमूना–आठ आने। डाकव्यय पृथक्।

चरक-अनुसन्धान-भवन, (चिकित्सा-विभाग), काशी

